सामाजिक विकास के नए आयाम

प्रेमशंकर तिवारी

सा जिक विकास
के
नए आयाम
प्रेमशंकर तिवारी

'विकास' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया जाता है। किसी भी वर्तमान स्थिति में कोई भी बदलाव 'विकास' कहलाता है। पर इस तरह के बदलाव को सभी समाजशास्त्री सामाजिक विकास नहीं मानते हैं। समाजशास्त्र में हम केवल सामाजिक ढांचे तथा सामाजिक संबंधों में आए बदलाव को ही सामाजिक विकास मानते हैं। 'विकास' शब्द परिवर्तन की उस गति को दर्शाता है जिसके अन्तर्गत एक अवस्था दूसरी अवस्था का स्थान लेती हुई आगे बढ़ती जाती है। विकास एक मूल्यपरक अवधारणा है। हर परिवर्तन से विकास नहीं होता। जब परिवर्तन एक निश्चित लक्ष्य की ओर नियोजित ढंग से होता है, तो उसे विकास कहते हैं।

वास्तव में यह पुस्तक 'समाजिक विकास के नए आयाम' हमारा सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास है। हमारी यह कोशिश रही है कि हम अपने जागरूक पाठकों एवं मित्रों को अधिक से अधिक जानकारी इस पुस्तक के माध्यम से आप सभी तक पहुँचा सकें अगर हम अपने इस प्रयास में सफल हुए तो हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझेंगे। अतः हम उन सबके भी ऋणी रहेंगे जो इस पुस्तक की गलतियों व असंगतियों की ओर हमारा ध्यान अग्रसर करेंगे। इसके साथ ही हम उन सभी मित्रों के भी आभारी हैं जिनका इस पुस्तक को तैयार करने में भरपूर सहयोग मिला। हम उम्मीद करते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक सभी विद्यार्थियों एवं मित्रों के लिए लाभदायक सिद्ध होगी।

सामाजिक विकास के नए आयाम

सामाजिक विकास के नए आयाम

Samajik vekas ka Nay Aayam

प्रेमशंकर तिवारी

प्रस्तावना

'विकास' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया जाता है। किसी भी वर्तमान स्थिति में कोई भी बदलाव 'विकास' कहलाता है। पर इस तरह के बदलाव को सभी समाजशास्त्री सामाजिक विकास नहीं मानते हैं। समाजशास्त्र में हम केवल सामाजिक ढांचे तथा सामाजिक संबंधों में आए बदलाव को ही सामाजिक विकास मानते हैं। 'विकास' शब्द परिवर्तन की उस गति को दर्शाता है जिसके अन्तर्गत एक अवस्था दूसरी अवस्था का स्थान लेती हुई आगे बढ़ती जाती है। विकास एक मूल्यपरक अवधारणा है। हर परिवर्तन से विकास नहीं होता। जब परिवर्तन एक निश्चित लक्ष्य की ओर नियोजित ढंग से होता है, तो उसे विकास कहते हैं।

वास्तव में यह पुस्तक 'समाजिक विकास के नए आयाम' हमारा सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास है। हमारी यह कोशिश रही है कि हम अपने जागरूक पाठकों एवं मित्रों को अधिक से अधिक जानकारी इस पुस्तक के माध्यम से आप सभी तक पहुँचा सकें अगर हम अपने इस प्रयास में सफल हुए तो हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझेंगे। अतः हम उन सबके भी ऋणी रहेंगे जो इस पुस्तक की गलतियों व असंगतियों की ओर हमारा ध्यान अग्रसर करेंगे। इसके साथ ही हम उन सभी मित्रों के भी आभारी हैं जिनका इस पुस्तक को तैयार करने में भरपूर सहयोग मिला। हम उम्मीद करते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक सभी विद्यार्थियों एवं मित्रों के लिए लाभदायक सिद्ध होगी।

—संपादक

क्रम

1

संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ

(Processes of Structural Change)

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। चूँकि समाज भी उसी प्रकृति का एक अंग है, इस कारण सामाजिक परिवर्तन भी प्राकृतिक या स्वाभाविक है। समाज मानव-जीवन के प्रारम्भ से ही मनुष्य के साथ है। तब से अब तक की अवधि में समाज या सामाजिक जीवन में, उसके स्वरूप, संरचना, व्यवस्था, संगठन, मूल्य 'संस्था' आदर्श सब कुछ में परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर जारी है। किसी भी ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जो कि पूर्णतया स्थिर (Static) हो। यदि हम सन् 1903 से 2003 के समाजों की तुलना करें, तो हमारे समाज की सम्पूर्ण दशाओं में कितने परिवर्तन हुए हैं, यह देखकर हमें काफी आश्चर्य ही होगा। पूरे समाज को नहीं, उस समाज की केवल एक इकाई व्यक्ति को ही लीजिए, व्यक्ति का जीवन भी एक स्तर से दूसरे स्तर को परिवर्तित होता रहता है—पहले बचपन, फिर युवावस्था, फिर वृद्धावस्था और अन्त में मृत्यु। इस प्रकार के धीरे-धीरे परिवर्तन की प्रक्रिया को 'उद्‌विकास' (evolution) कहा गया है, परन्तु उद्‌विकास भी परिवर्तन का ही एक विशिष्ट स्वरूप हैं। समाज व उसके विभिन्न पक्षों में परिवर्तन स्वाभाविक है। परन्तु इस स्वाभाविक विलक्षणता की एक विशेषता यह है कि प्रत्येक समाज में परिवर्तन की 'प्रकृति' अलग-अलग होती है। प्रकृति से हमारा तात्पर्य 'गति' (speed) तथा 'स्वरूप' (form) से है।

प्रत्येक समाज में सामाजिक परिवर्तन की गति एकसमान नहीं होती है; किन्हीं

समाजों में यह परिवर्तन काफी तेज गति से होता है तो किन्हीं में मन्द गति से। उसी प्रकार परिवर्तन के स्वरूप में भी भिन्नता हो सकती है तो दूसरे पक्ष में यह हो सकता है कि आर्थिक पक्ष शीघ्रता से बदल रहे हों। सामाजिक जीवन के एक पक्ष में परिवर्तन अन्य पक्षों को भी परिवर्तित कर ही देगा। यही स्वाभाविक है और यही होता भी है। परिवर्तन की धारणा 'समय' से भी सम्बन्धित है। वैज्ञानिकों का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन की गति व स्वरूप समाज विशेष के विज्ञान या वैज्ञानिक ज्ञान के विस्तार व प्राप्ति के स्तर से सम्बन्धित है। जिस देश में विज्ञान की जितनी उन्नति है, उस देश में सामाजिक परिवर्तन की गति उतनी ही तेज होगी। यही कारण है कि उन्नत समाजों में, जिनका विज्ञान से सीधा सम्बन्ध होता है, सामाजिक परिवर्तन भी तेज होता है।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Change)

गिलिन और गिलिन ने सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा को उन कारणों सहित प्रस्तुत किया है जिनके कारण सामाजिक परिवर्तन घटित होता है। इन विद्वानों ने जीवन की मानी हुई रीतियों या तरीकों में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन विद्वानों ने सामाजिक घटनाओं (Social phenomena) का विश्लेषण सांस्कृतिक सन्दर्भ में करने का प्रयत्न किया है। इसीलिए उन्होंने अपनी पुस्तक का नाम '*Cultural Sociology*' अर्थात् *'सामाजिक समाजशास्त्र'* रखा है। संस्कृति को कुछ विद्वान 'जीवन के समग्र तरीके या ढंग' (total ways of the life) कहकर परिभाषित करते हैं और साथ ही उन तरीकों या ढंगों को सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। सम्भवतः उपरोक्त विद्वानों ने भी संस्कृति को उसी रूप में देखा और समझा है और इसीलिए जीवन की मानी हुई रीतियों या तरीकों को ही सामाजिक परिवर्तन कहा है। यह परिवर्तन एकाधिक कारणों से घटित होता है, जैसे भौगोलिक कारक, सांस्कृतिक संगठन, जनसंख्या की रचना, प्रसार, आविष्कार आदि। इनमें से एक या एकाधिक कारण जीवन की स्वीकृत प्रणालियों को बदल सकते हैं। वह अवस्था सामाजिक परिवर्तन ही है।

जेन्सन ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को सरल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। सावधानीपूर्वक निरीक्षण करने पर यह स्पष्टतः पता चलता है कि समाज के सदस्यों के सोचने तथा काम करने में कुछ नियमितता होती है। अर्थात् सामान्यतया वे कुछ निश्चित तरीकों से सोचते और काम करते हैं। इन तरीकों में

कोई अदला-बदली होना सामाजिक परिवर्तन का ही सूचक है। इसी प्रकार जेन्सन ने सामाजिक जीवन के केवल क्रिया पक्ष व बौद्धिक पक्ष में होने वाले रूपान्तरण को सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित करने का आधार माना है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन एक प्रक्रिया है। इसमें एक निश्चित अवधि में घटनाओं की एक शृंखला होती है। इसमें निरन्तरता का क्रम जारी रहता है जो सामाजिक परिवर्तन के कारक होते हैं। इस प्रकार यह प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन के दो प्रमुख पक्षों की ओर संकेत करती है– इसका स्वरूप और इसकी दिशा। परिवर्तन का स्वरूप जहां इसके मूल तत्त्वों को बताता है वहीं दिशा परिवर्तन किस तरफ हो रहा है यह बताती है। इस अध्याय में हम परिवर्तन के इन दोनों पक्षों पर विचार करने के साथ ही उन पहलुओं पर भी दृष्टि डालेंगे जो इन परिवर्तनों के मूल कारक हैं।

सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप
(Forms of Social Change)

'परिवर्तन' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया जाता है। किसी भी वर्तमान स्थिति में कोई भी बदलाव परिवर्तन कहलाता है। यदि गर्मी कम होकर सर्दी पड़ने लगती है तो हम यही कहते हैं कि मौसम बदल रहा है या मौसम में परिवर्तन हो रहा है। पर इस तरह के सभी परिवर्तनों को समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन नहीं मानते हैं। समाजशास्त्र में हम केवल सामाजिक ढांचे तथा सामाजिक संबंधों में आए बदलाव को ही सामाजिक परिवर्तन मानते हैं। **इन्टरनेशनल एनसाईक्लोपीडिया ऑफ स्पेशल साईंसेज़** के अनुसार सामाजिक ढांचे या लोगों के पारस्परिक व्यवहार में आए महत्त्वपूर्ण बदलाव ही सामाजिक परिवर्तन हैं।

इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन सामाजिक जीवन व संबंधों में होने वाले बदलाव की एक अनिवार्य प्रक्रिया को दर्शाता है। 'अनिवार्य' इस अर्थ में कि सामाजिक परिवर्तन को टाला नहीं जा सकता, यह तो निरंतर रूप में घटित होता ही रहता है चाहे इसकी गति तेज हो या धीमी, एक-समान हो या असमान, अच्छा परिणाम देने वाला हो या बुरा परिणाम। इन्हीं आधारों पर सामाजिक परिवर्तन के कुछ स्वरूपों का उल्लेख किया जाता है जो कि इस प्रकार है–

1. परिवर्तन (Change)—वर्तमान स्थिति में कोई भी बदलाव परिवर्तन कहलाता है। इसका गुणवत्ता से कोई संबंध नहीं होता–परिवर्तन अच्छा परिणाम

भी दे सकता है और बुरा परिणाम भी। परिवर्तन के क्षेत्र, दिशा व गति में भी भिन्नता हो सकती है।

2. वृद्धि (Growth)—वृद्धि एक विशेष प्रकार का परिवर्तन है। वृद्धि की अपनी एक दिशा होती है। इस अर्थ में परिवर्तन की दिशा को वृद्धि कहते हैं और यह आकार तथा गुणवत्ता पर आधारित होती है। वृद्धि की एक गति भी होती है अर्थात् वृद्धि मन्द गति से हो सकती है और तेज गति से भी। इसी आधार वृद्धि के दर (growth rate) को भी दर्शाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, एक समाज के जनसंख्यात्मक ढांचे के वृद्धि-दर के आधार पर ही हमें उसे समाज में होने वाले जनसंख्या संबंधी परिवर्तन या आकार (size) का पता चलता है।

3. उद्विकास (Evolution)—जब परिवर्तन धीरे-धीरे, सरल से जटिल की ओर कुछ निश्चित स्तरों से गुजरता हुआ होता है तो उसे उद्विकास कहते हैं। जैसे एक आम की गुठली को जमीन में गाड़ दीजिए, वह धीरे-धीरे, कुछ निश्चित स्तरों से गुजरती हुई एक सरल गुठली से एक जटिल आम के पेड़ के रूप में विकसित हो जाएगी।

4. प्रगति (Progress)—अच्छाई के लिए परिवर्तन 'प्रगति' कहलाता है। जब कोई परिवर्तन अच्छा परिणाम देता है तो उसे हम प्रगति कहते हैं। आज एक परीक्षा में अगर एक विद्यार्थी को 45 अंक मिलते हैं और फिर अगली परीक्षा में 65 अंक, तो यह प्रगति का ही सूचक होगा। देश की आर्थिक नीतियों से यदि देशवासी अधिक समृद्ध हो जाए तो उसे प्रगति कहेंगे।

5. क्रान्ति (Revolution)—जब कोई परिवर्तन एकाएक या अचानक तथा गम्भीर परिणाम उत्पन्न करने वाला होता है तो उसे क्रान्ति कहते हैं साधारणतया क्रान्ति शब्द का प्रयोग किसी आकस्मिक और अप्रत्याशित परिवर्तन के लिए किया जाता है चाहे वह परिवर्तन धार्मिक, राजनैतिक या औद्योगिक क्षेत्र में हो। केवल टी. वी. के बढ़ते चलन ने घर के सदस्यों के मनोरंजन के तरीकों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है।

6. विकास (Development)—'विकास' शब्द परिवर्तन की उस गति को दर्शाता है जिसके अन्तर्गत एक अवस्था दूसरी अवस्था का स्थान लेती हुई आगे बढ़ती जाती है। विकास एक मूल्यपरक अवधारणा है। इस अर्थ में अपेक्षित परिवर्तन की प्रक्रिया को विकास कहते हैं। हर परिवर्तन से विकास नहीं होता। जब परिवर्तन एक निश्चित लक्ष्य की ओर नियोजित ढंग से होता है, तो उसे विकास कहते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ
(Processes of Social Change)

'समाज' और 'संस्कृति' से भिन्न-भिन्न अवधारणाएं हैं। इसलिए सामाजिक परिवर्तन और सांस्कृतिक परिवर्तन की अलग-अलग अवधारणाएं हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों ने सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई भी अन्तर नहीं माना है फिर भी अधिकतर समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को दो श्रेणियों में रखकर विश्लेषित किया है—संरचनात्मक प्रक्रियाएं और सांस्कृतिक प्रक्रियाएं। परिवर्तन की संरचनात्मक प्रक्रियाएं सामाजिक संबंधों में होने वाले परिवर्तन को कहते हैं। जाति, परिवार, नातेदारी और व्यावसायिक समूह संरचनात्मक प्रक्रियाओं के कुछ प्रमुख पक्ष हैं। इनके पूर्व निश्चित सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को संरचनात्मक परिवर्तन कहते हैं। भारत में आधुनिकता के आने से पहले समाज में विशेष भाग दौड़ और उतार-चढ़ाव था। जीवन निश्चित ढर्रे पर चलता था। जन्मजात धन्धों को व्यक्ति अपने सामाजिक और नैतिक जीवन में समूह यानि संघ के अधीन था, उसकी कोई व्यक्तिगत पहचान नहीं थी। वह किसी परिवार का था, मौहल्ले या गाँव का, जाति या नातेदारी का यह समग्रता सम्पूर्ण समाज की एक सूत्र में बांधे रंखती थी। भारतीय समाज की तीसरी विशेषता उसकी निरन्तरता थी।

पहले देश में एक पारम्परिक कृषि व्यवस्था थी जिसका संचालन पारिवारिक श्रम पर आश्रित था लेकिन अब कृषि का कार्य केवल परिवार के सदस्यों से न करवाकर मजदूरों एवं संयंत्रों द्वारा किया जाता है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया को संरचनात्मक परिवर्तन कहते हैं। इसी प्रकार संयुक्त परिवारों का टूटना और एकाकी परिवारों का विकास होना परिवार की संरचना और उसके प्रकार में परिवर्तन द्योतक है। लोगों के कार्यों में परिवर्तन की प्रक्रिया के माध्यम से यह संरचनात्मक परिवर्तन होता है।

प्रो० के० डेविस के अनुसार *"सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो कि सामाजिक संगठन अर्थात समाज के ढांचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं।"* भूमिकाओं में परिवर्तन की प्रक्रिया के माध्यम से यह संरचनात्मक परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में घटनाओं के विशिष्ट क्रम के कारण सामाजिक संस्थाओं की भूमिकाओं में परिवर्तन होता है जो इन परिवर्तित परिस्थितियों में अधिक प्रभावशाली होता है। वास्तव में भूमिकाओं का संरचनात्मक परिवर्तन प्रकार्यात्मक विशेषीकरण में बदल जाता है। जैसे कि पहले पारम्परिक से मुक्त परिवार ही शिक्षा,

व्यवसाय, सामाजिक सुरक्षा के अतिरिक्त बच्चों के जन्म एवं पालन-पोषण और उनके विवाह जैसी विविध भूमिकाओं को निभाता था। लेकिन अब संयुक्त परिवारों के एकाकी परिवारों में परिवर्तन हो जाने के कारण ये सब कार्य विशेष संगठनों, जैसे-स्कूल, कॉलेज, आर्थिक संगठन, सरकारी विभाग और दूसरे माध्यमों द्वारा किए जाने लगे हैं। भूमिकाओं (Roles) की भिन्नताओं के कारण संरचनात्मक परिवर्तन सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों के अनुभव किया जा रहा है।

अब हम यहां औद्योगीकरण, नगरीकरण, पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण का विश्लेषण सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के सन्दर्भ में करेंगे।

औद्योगीकरण (Industrialization)

औद्योगीकरण आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक प्रक्रिया है। कृषि युग में उत्पादन कार्य हाथ से तथा परिवार में ही होता था और इसीलिए उसे हस्तकला और गृह-उद्योग के नाम से पुकारा जाता था। पर मशीनों के आविष्कार ने सम्पूर्ण उत्पादन की प्रक्रिया को ही बदलकर रख दिया। दूसरे शब्दों में उत्पादन कार्य में मशीनों का प्रयोग होने लगा। मशीनों द्वारा उत्पादन तभी लाभदायक है जब कि उत्पादन कार्य बड़े पैमाने पर हो। इसके लिए परिवार का दायरा पर्याप्त न था। अतः बड़े-बड़े मिल-कारखानों की स्थापना अनिवार्य हो गई। इन बड़े कारखानों में काम करने के लिए बड़ी संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता हुई और इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए गाँवों से हजारों की संख्या में लोग उस स्थान पर आकर बस गए जहाँ कि मिल व कारखानों की स्थापना की गई। इस प्रकार उद्योनों का विकास हुआ और इस विकास-प्रक्रिया में मशीनों द्वारा उत्पादन की प्रक्रिया निरन्तर बढ़ती गई। इसी प्रक्रिया को औद्योगीकरण कहा जाता है। इस अर्थ में, मशीनों द्वारा बड़े पैमाने में उत्पादन-कार्यों का सम्पांदन व उद्योग-धन्धों का एक स्थान में विकास की प्रक्रिया को औद्योगीकरण कहते हैं।

कुछ लेखकों का कथन है कि *"औद्योगीकरण का तात्पर्य बड़े पैमाने के नवीन उद्योगों का प्रारम्भ और छोटे उद्योगों का बड़े पैमाने के उद्योगों में बदलने से है।"* वास्तविक अर्थ में, औद्योगीकरण उद्योगों के बड़े पैमाने में विकास की एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत कोयला, तेल, प्राकृतिक गैस, अन्य खनिज पदार्थों की अधिकाधिक प्राप्ति तथा उन्हें काम में लगाने पर बल दिया जाता है और कपास, तिलहन, पटसन आदि अन्य खेती द्वारा उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को उत्पादन के कच्चे माल के रूप में प्रयोग किया जाता है जिससे कि इन

सभी से सम्बन्धित उद्योग-धन्धों का विकास बड़े पैमाने में हो सके। इस प्रकार खनिज पदार्थों और खेती द्वारा उत्पन्न होने वाली वस्तुओं से मशीनों द्वारा विभिन्न उद्योगों को बड़े पैमाने पर विकसित करने की प्रक्रिया को ही औद्योगीकरण कहते हैं।

इस प्रकार **औद्योगीकरण प्रौद्योगिक उन्नति की एक वह प्रक्रिया है जो सामान्य उपकरणों से चलने वाले घरेलू उत्पादन से लेकर भारी स्तर पर कारखानों के उत्पादन तक सम्पन्न होती है।** समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह शब्द उद्योगों के संरचनात्मक परिवर्तन के कारण होने वाले आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को व्यक्त करता है। औद्योगीकरण में वे सभी सामाजिक कारक सम्मिलित हैं जो सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। कारखानों के माध्यम से किया गया विस्तृत श्रम-विभाजन और नई कार्य-संस्कृति इसके अच्छे उदाहरण हैं।

भारत में औद्योगीकरण
(Industrialization in India)

1948 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के साथ ही भारतीय औद्योगिक नीति के विकास क्रम की शुरूआत हुई। इस प्रस्ताव ने न केवल नीति की मोटी-मोटी रूपरेखा परिभाषित की बल्कि इसने औद्योगिक विकास के उद्यमी और प्राधिकारी दोनों ही के रूप में राष्ट्र की भूमिका को भी रेखांकित किया। विभिन्न नीतिगत प्रस्तावों में भी सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति इस बुनियादी झुकाव को दोहराया गया। अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र को 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका सौंपी गई।

जुलाई, 1991 को सरकार ने औद्योगिक नीति में व्यापक परिवर्तनों की घोषणा की। इस नई औद्योगिक नीति में 18 प्रमुख उद्योगों को छोड़कर अन्य सभी उद्योगों को लाइसेंस से मुक्त कर दिया गया। **दिसम्बर, 1996** तक 48 उच्च प्राभमिकता वाले क्षेत्रों में विदेशी पूँजी निवेश की सीमा को बढ़ाकर 51 प्रतिशत कर दिया गया। **मार्च, 1993** से उन 13 खनिजों को जो पहले सरकार क्षेत्र के लिए आरक्षित थे, उन्हें प्राइवेट क्षेत्र के लिए खोल दिया गया।

नई, 2001 को केन्द्रीय मंत्रीमंडल द्वारा लिए गए एक निर्णय के अनुसार केन्द्र सरकार ने सुरक्षा संबंधी उत्पादन के क्षेत्र में निजी क्षेत्र के प्रवेश की अनुमति प्रदान कर दी गई जिसमें 25% तक विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की अनुमति दी जा

सकती है। अभी तक यह सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित था।

भारत में वस्त्र उद्योग सबसे बड़ा उद्योग है। मुम्बई सबसे बड़ा वस्त्र व्यवसाय का केन्द्र है। क्योंकि यह कपास की सबसे बड़ी मण्डी भी है। यहाँ से कपास विदेशों को जाती है। इसके बाद अहमदाबाद का स्थान है। भारत में सूती कपड़े की जितनी मिलें हैं उनकी लगभग आधी इन दो औद्योगिक केन्द्रों में ही हैं। इनके अतिरिक्त, शोलापुर, नागपुर, कलकत्ता, कानपुर, कोयम्बटूर, चेन्नई, इन्दौर, ब्यावर, हाथरस आदि में भी कपड़े की मिलों के आधार पर औद्योगीकरण हुआ है। **31 मार्च, 1999** को देश में कपड़ा मिलों की संख्या 1,824 थी, जिनमें से 192 सार्वजनिक क्षेत्र, 153 सहकारी क्षेत्र और 1,479 निजी क्षेत्र में हैं।

हमारा पटसन (जूट) शुरू से ही निर्यातोन्मुखी रहा है। उत्पादन की दृष्टि से भारत दुनिया में पहले स्थान पर और निर्यात की दृष्टि से दूसरे स्थान पर है। जूट उद्योग के आधार पर पश्चिमी बंगाल में औद्योगीकरण की प्रक्रिया तेजी से क्रियाशील हुई है। भारत के अधिकांश जूट कारखाने इसी प्रदेश में हैं और वह भी कलकत्ता के उत्तर और दक्षिण में हुगली के दोनों और केन्द्रित हैं।

चीनी उद्योग कृषि उत्पादों पर आधारित उद्योगों में सूती वस्त्र उद्योग के बाद दूसरा प्रमुख उद्योग है। 1950-51 में चीनी की 138 मिलें थीं। 2000-01 में देश में कार्यरत चीनी मिलों की संख्या 493 थी। इनमें से 271 मिलें सहकारी क्षेत्र, 152 सार्वजनिक तथा 70 निजी क्षेत्र में हैं। इस अवधि के दौरान चीनी का उत्पादन 182.21 लाख टन था जो सर्वाधिक था। हाल ही में, निर्यात को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने इसे डिकैनालाइज़ (decanalise) करने का निर्णय ले लिया है। इसके परिणामस्वरूप अब चीनी मिलें सीधे ही चीनी का निर्यात कर सकेंगी।

लोहा-इस्पात का उद्योग भी औद्योगीकरण का एक महत्त्वपूर्ण कारक है। इस उद्योग में 90 हजार करोड़ रुपए की पूँजी लगी हुई है। सन् 1907 से पूर्व जमशेदपुर एक छोटा-सा गाँव था, पर वहाँ **टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी** खुल जाने से वही स्थान अब अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का औद्योगिक केन्द्र बन गया है। आज भारत विश्व का नौवाँ सबसे बड़ा इस्पात उत्पादक देश है। भद्रावती, भिलाई, राउरकेला, दुर्गापुर जैसे ग्रामों में भी लोहा-इस्पात के 10-10 लाख टन क्षमता की परियोजनाओं की स्थापना ने उन स्थानों को बड़े-बड़े नगरों में बदल दिया है।

हमारे देश में ऊनी कपड़े के मिल उद्योग का आरम्भ सन् 1876 में हुआ। वर्ष 2000-01 में परिष्कृत इस्पात का निर्यात 26.6 लाख टन रहा। जबकि

कानपुर में 'लाल इमली' की ऊनी कपड़ा मिल स्थापित हुई। वह भारत का सबसे पहला आधुनिक ऊनी कपड़ा कारखाना है। इसके बाद पंजाब में 'धारीवाल' नामक स्थान पर सन् 1882 में ऊनी कपड़े की एक बड़ी मिल खोली गई और सन् 1882 में ही बंगलौर में भी मिल खोली गई। उसी प्रकार 'मुम्बई की रेमण्ड वूलन मिल' विख्यात है। बंगलौर, मैसूर, बेलगाँव, अहमदाबाद, सूरत, मुम्बई, कोयम्बटूर, वाराणसी, हैदराबाद, अमृतसर, लुधियाना, श्रीनगर, भागलपुर आदि नगरों में औद्योगीकरण की प्रक्रिया में रेशमी कपड़ा उद्योग ने पर्याप्त योगदान किया है।

भारत में नकली रेशमी कपड़े का उद्योग (Rayon Textile Industry) सन् 1950 में शुरू हुआ भारत का कुल रेशम उत्पादन लगभग 10,000 टन है जो विश्व उत्पादन का लगभग 20 प्रतिशत है। जिसकी वजह से भारत कच्चे रेशम का दूसरा सबसे बड़ा उत्पादन माना जाता है। लगभग 54 लाख लोगों को इन उद्योग में रोजगार मिला हुआ है। जबकि केरल राज्य में पेराम्बूर नामक स्थान पर एक कारखाना खोला गया। इसके बाद ट्रावनकोर, हैदराबाद, नागदा, बम्बई, कोटा, ग्वालियर, मोदीनगर आदि स्थानों पर इस उद्योग का विकास हुआ।

कोयला उद्योग के विकास के कारण भी भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। कहा जाता है कि यदि संसार में कोयला और लोहा न हुए होते तो सम्भवतः आधुनिक विश्व की रूपरेखा कुछ और ही हुई होती। बिहार में झरिया, बोकारो, गिरीडीह, डाल्टनगंज आदि, पश्चिमी बंगाल में रानीगंज, उड़ीसा में तालचीर और रामपुर आदि स्थानों में औद्योगीकरण कोयला उद्योग के कारण ही हुआ है। कोयला उत्पादन में आज भारत का विश्व में तीसरा स्थान है। भारत के कोयला भण्डारों में 1 जनवरी, 2000 तक सभी प्रकार का कुल 234 अरब टन कोयला था।

इस समय देश में कागज मिलें 515 हैं, इनमें अखबारी कागज मिलें भी शामिल हैं, इनकी वार्षिक क्षमता 51 लाख टन है। अखबारी कागज की माँग काफी हद तक देश में होने वाले उत्पादन से पूरी की जाती है और इसमें जो कमी रह जाती है, वह आयात द्वारा पूरी की जाती है। अखबारी कागज का अयात जो पहले वितरणीबद्ध किया गया था। सरकार ने 17 जुलाई, 1997 से कागज उद्योग को पूरी तरह लाइसेंस मुक्त कर दिया था। अतः अखबारी कागज का निर्यात खुले आम लाइसेंस के अन्तर्गत आता है।

भारत में चमड़ा उद्योग में बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार मिला हुआ है। निर्यात बढ़ाने के लिए इस उद्योग पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। कुल

उत्पादन की 75 प्रतिशत निर्यात करती हों। 2000-01 में 9,004 करोड़ रुपए से अधिक मूल्य की चप्पलें और जूते तथा इसी तरह की अन्य वस्तुएं निर्यात की गईं। वर्ष की अपेक्षा 14.75 प्रतिशत अधिक रही।

औद्योगीकरण के सामाजिक परिणाम
(Social Consequences of Industrialization)

मूलतः भारत एक कृषि-प्रधान और गाँव-प्रधान देश है। इस कारण यूरोप की भाँति भारत में भी औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रियाएँ शीघ्र प्रारम्भ नहीं हुई थी। इस देश में औद्योगीकरण, वास्तव में, 16वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही प्रारम्भ हुआ। सन् 1857 के उपरान्त देश में अंग्रेजी शासन-व्यवस्था स्थापित हुई और आधुनिक उद्योगों, यातायात तथा अर्थ-व्यवस्था का विकास होना प्रारम्भ हो गया। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे मुम्बई, अहमदाबाद, कलकत्ता, कानपुर, चेन्नई और जमशेदपुर जैसे औद्योगिक नगरों का विकास हुआ। इस औद्योगीकरण ने अनेक गम्भीर समस्याओं को जन्म दिया। संक्षेप में, औद्योगीकरण या प्रौद्योगिकरण प्रगति (Technological Progress) के सामाजिक परिणाम निम्नलिखित हैं–

(1) पूँजीवाद का विकास (Development of Capitalism)—औद्योगीकरण में आर्थिक उत्पादन बड़े-बड़े मिल और कारखानों में मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर होता है। इसके लिए बहुत धन की आवश्यकता होती है और इस कारण आर्थिक उत्पादन के साधनों पर उन्हीं का अधिकार होता है जिसके पास काफी पूँजी हो। अतः उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का एकाधिकार हो जाता है और अन्य सभी पूँजीहीन व्यक्तियों के लिए जीविका पालन का केवल एक ही रास्ता रह जाता है कि वे अपने श्रम को बेचकर अपना पेट पालें। इस प्रकार औद्योगीकरण ने समाज के दो आर्थिक वर्गों–पूँजीपति और श्रमिक–में बाँट दिया। पूँजीपति-वर्ग श्रमिक की विवशताओं का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं और हर प्रकार से उनका शोषण करते हैं। इससे धनी-वर्ग और भी धनवान हो जाता है और निर्धन श्रमिक-वर्ग की आर्थिक दशा दिन-प्रतिदिन गिरती जाती है।

(2) बड़े पैमाने में उत्पादन और व्यापार में उन्नति (Large scale production and development of Trade)—औद्योगीकरण के अन्तर्गत उत्पादन बड़ी मशीनों द्वारा होता है और मशीनों ने पूर्ण उपयोगिता तभी मिल सकती है जब बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाए। इस प्रकार औद्योगीकरण से बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा और अब उत्पादन करने का ध्येय केवल स्थानीय आवश्यकताओं

की पूर्ति नहीं बल्कि उसके द्वारा व्यापार करना भी हो गया। अतः औद्योगीकरण से व्यापार और वाणिज्य का क्षेत्र अब समस्त संसार में विस्तृत हो गया है।

(3) श्रम-विभाजन और विशेषीकरण (Division of labour and Specialization)—बड़े पैमाने के उत्पादन में श्रम-विभाजन परमावश्यक है क्योंकि एक या कुछ व्यक्तियों के द्वारा प्रत्येक प्रकार का कार्य नहीं हो सकता। श्रम-विभाजन की प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को एक विशेष प्रकार का कार्य ही करना होता है। बहुत दिनों तक एक ही प्रकार का काम करने से उस कार्य में उसे विशेष ज्ञान तो जाता है। साथ ही विशेषज्ञ बनाने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था होती है।

(4) जीवन का ऊँचा स्तर (Higher standard of Living)—बड़े पैमाने में उत्पादन, उद्योग-धन्धे, व्यापार और वाणिज्य में उन्नति के साथ-साथ लोगों की आर्थिक दशा सुधर सकती है, यदि इन सब का विकास समाजवादी ढंग से किया जाए। औद्योगीकरण की स्वस्थ प्रक्रिया देश की राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में काफी सहायक हो सकती है।

(5) आर्थिक संकट तथा बेकारी (Economic depression and Unemployment)—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, औद्योगीकरण में उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि उसकी खपत असम्भव हो जाती है। ऐसी अवस्था में आर्थिक संकट उपस्थित होता है और देश में बेकारी बढ़ती है।

(6) जाति-प्रथा का निर्बल होना (Weakening of Caste System)—औद्योगीकरण के साथ ही नगरों का विकास हुआ। विविध प्रकार के व्यवसाय तथा अनेकों मिल, कारखाने आदि स्थापित हो गए; इनमें सभी जाति के लोगों को एक साथ मिलकर काम करना होता है। यहाँ न तो श्रम-विभाजन या पेशों का विभाजन होता है और न ही ऐसा होना सम्भव है। अवसर मिलते ही यथा-शीघ्र गाँव को वापस लौट जाते हैं। परन्तु वे अकेले नहीं जाते, अपने साथ नागरिक संस्कृति के अनेक तत्त्व भी ले जाते हैं। इस प्रकार भी गाँवों में 'शहरीपन' आता जाता है।

(7) ग्रामोद्योग का ह्रास (Decline of Cottage Industry):—भारत में औद्योगीकरण का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि उससे ग्रामोद्योगों का विनाश होता गया। इसका कारण यह है कि इस देश में गाँवों के कुटीर उद्योगों और शहर के बड़े-बड़े उद्योगों के बीच न तो कोई समन्वय है और न ही किसी प्रकार का श्रम-विभाजन। फलतः बड़े पैमाने में मशीन द्वारा जिन सस्ती चीजों का उत्पादन

होता है उससे प्रतियोगिता करना ग्रामीण उद्योगों में बनी चीजों के लिए असम्भव हो गया। इससे ग्रामोद्योग का ह्रास होता रहा।

(8) संयुक्त परिवार का विघटन तथा छोटे परिवार (Disintegration of Joint Family and Small Families)—कृषि-युग में परिवार के सदस्यों को एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जाना पड़ता था और सभी सदस्य एक स्थान पर एक-साथ रहकर खेतीबाड़ी करते थे। परन्तु औद्योगीकरण ने यह एकता तोड़ दी है क्योंकि इसके फलस्वरूप नौकरी का क्षेत्र सारे देश में फैल गया है और लोग अपना घर छोड़कर नौकरी की खोज में अन्य स्थानों में जाकर बसने लगे। साथ ही औद्योगीकरण ने गाँव के गृह-उद्योगों को नष्ट कर दिया और इनमें लगे अनेक कारीगर बेकार हो गए और नौकरी की खोज में गाँव से शहर में आकर बसने को बाध्य हुए। इससे भी संयुक्त परिवार का विघटन हुआ। नगरों में मकानों की समस्या गम्भीर होने के कारण जो लोग वहाँ परिवार बसाते भी हैं वे भी केवल अपनी पत्नी और बच्चों के साथ ही रहते हैं। इस कारण नगरों में परिवार का आकार छोटा होता है।

(9) स्त्रियों की उन्नत दशा (Better status of Women)—नगरों में स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होता है। साथ ही औद्योगीकरण ने उनके लिए रोजगार के अनेक रास्ते खोल दिए हैं। वे भी आज स्वतन्त्रतापूर्वक नौकरी करती हैं और आर्थिक विषय में आत्म-निर्भर हो गई हैं। इस प्रकार औद्योगीकरण से स्त्रियों की दशा में पर्याप्त उन्नति हुई है।

(10) स्त्रियों का घर से बाहर काम करना (Employment of Women outside Home)—औद्योगीकरण के फलस्वरूप न केवल पुरुषों के लिए वरन स्त्रियों के लिए भी नौकरी के पर्याप्त अवसर आज नगरों में हैं। इस कारण स्त्रियाँ घर से बाहर काम करने को जाती हैं। इससे स्त्रियाँ पारिवारिक प्रतिबन्धों सें अपने को विमुक्त कर पाती हैं, पर्दा-प्रथा कम होती जाती है और स्त्रियों को आर्थिक विषयों में भी आत्म-विकास अवसर मिल जाता है। साथ ही, स्त्रियों के बाहर काम करने से परिवार का प्रबन्ध (management) तथा संगठन बिगड़ता है, पति-पत्नी में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं पनप पाता है, उनमें आर्थिक, यौन-सम्बन्धी तथा अन्य व्यक्तिगत विषयों में मतभेद या तनाव उत्पन्न होता है। विवाह-विच्छेद और पारिवारिक विघटन भी होता है और साथ ही बच्चों की देख-रेख या लालन-पालन उचित ढंग से नहीं हो पाता।

(11) पारिवारिक कार्य-क्षेत्र का सीमित होना (Limited field of

Family Functions)—कृषि स्तर पर परिवार स्वयं पूर्ण होता था और अपने सदस्यों की अधिकाँश आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, परन्तु औद्योगीकरण ने इस स्थिति को पूर्णतया बदल दिया है। आज परिवार के प्रायः सभी बाहर की विशेष समितियों तथा संस्थाओं के हाथ में चले गए हैं, विशेषकर पहले जो परिवार आर्थिक उत्पादन की इकाई के रूप में कार्य करते थे, उनका तो बिल्कुल ही अन्त हो गया है। आज उत्पादन परिवार में नहीं, मिल और कारखानों में होता है।

(12) पारिवारिक नियन्त्रण और महत्त्व का घटना (Lesser Importance and control of Family)—आज परिवार के सदस्यों की अधिकतर आवश्यकताओं की पूर्ति बाहर की समितियों या संस्थाओं द्वारा होती है। इस कारण उनके लिए परिवार का महत्त्व कम हो जाना स्वाभाविक है। साथ ही जीविका उपार्जन, शिक्षा आदि के लिए परिवार के विभिन्न सदस्य पृथक-पृथक कारखानों, दफ्तरों, स्कूल तथा कालेजों में चले जाते हैं। उन्हें सारा दिन घर से बाहर रहना पड़ता है और न ही वे एक-दूसरे के व्यवहार को नियन्त्रित कर पाते हैं। पिता-माता का बच्चों पर, पति का पत्नी पर नियन्त्रण साधारणतया ढीला रहता है। संयक्त-परिवार न होने के कारण परिवार में उन बड़े-बड़े सदस्यों का भी अभाव रहता है जो कि सबके व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं।

(13) प्रेम-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब-विवाह और तलाक (Love Marriage, Inter-caste Marriage, Late Marriage and Divorce)—युवक-युवतियों का साथ-साथ पढ़ना-लिखना, कारखानों या दफ्तरों में साथ-साथ काम करना, उनके मेल-मिलाप की स्वतन्त्रता प्रेम-विवाह के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं। प्रेम-विवाह में जाति-पाँति का भेद-भाव स्वभावतः नहीं होता। वैसे भी औद्योगीकरण ने जातीय प्रतिबन्धों को निर्बल कर दिया है, इससे अन्तर्जातीय विवाह होता है। नगरों में शिक्षा के कारण पुरानी परम्पराओं का प्रभाव कम हो जाता है और लोग कम आयु में विवाह करना या देना पसन्द नहीं करते हैं। साथ ही रोमान्स के कारण, स्त्रियों में आत्म-स्वतंत्रता की कटु भावना के कारण, पति-पत्नी में पेशा तथा अन्य आर्थिक और यौन-सम्बन्धी मतभेद के आधार पर पारिवारिक तनाव के कारण विवाह-विच्छेद भी अधिक होता है।

औद्योगीकरण से जहाँ सामाजिक क्रान्ति आई है, वहीं इसके कुछ दुष्परिणाम भी साफ नजर आते हैं। इन दुष्परिणामों को रोकने के लिए आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए ताकि उत्पादन के साधनों का विनाश न हो। उद्योगों के स्थानीकरण को रोका जाना चाहिए। उद्योगों को एक ही शहर में केन्द्रित न कर,

विभिन्न शहरों तथा शहरों के आस-पास के क्षेत्रों में केन्द्रित किया जाए। इससे नगरों में पाई जाने वाली घनी आबादी, गन्दी बस्ती आदि की समस्याएँ बहुत-कुछ हल हो जाएँगी। श्रमिकों के लिए उचित आवास तथा काम करने की दशाओं को उपलब्ध करने का पूर्ण उत्तरदायित्व सरकार को लेना चाहिए। नगरों के उद्योगों को इस प्रकार विकसित किया जाए कि ग्रामीण उद्योगों के विकास में बाधा न पहुँचे। इसके अतिरिक्त सबके लिए स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था और बच्चों के लिए खेल-कूद की सुविधाएँ उपलब्ध करनी चाहिएँ। प्रयत्न करने पर औद्योगीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न अनेक समस्याओं को इन आधारों पर सुलझाया जा सकता है।

तकनीकी आविष्कारों ने आम लोगों के जीवन तक में महत्त्वपूर्ण सुधार ला दिए हैं। गैस-चूल्हों एवं बायो-गैस की प्रकाश-व्यवस्था ने गाँवों की रंगत ही बदल दी है। खेती में मशीनों एवं संकर बीजों का प्रयोग किया जाने लगा है। सड़क-यातायात, रेल-व्यवस्था, दूरसंचार आदि ने लोगों की मानसिकता का क्षैतिज एवं गुणात्मक दोनों प्रकार से विस्तार किया है और इससे भारतीयों की जागरुकता में वृद्धि हुई है। यद्यपि बाह्य संस्कृतियों के सम्पर्क का प्रभाव हमेशा लाभकारी ही नहीं होता, तथापि इसने भारतीय मानसिकता को नए विचारों एवं धारणाओं की खुराक दी है, जिनसे लोगों के जीवन-स्तर में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। परन्तु, कुल मिलाकर प्रभाव बाहरी स्तर पर ही अधिक दिखता है, मानसिक स्तर पर परिवर्तन की दर बहुत धीमी रही है।

नगरीकरण (Urbanization)

नगरीकरण की प्रक्रिया नगर से सम्बन्धित है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि नगर सामाजिक विभिन्नताओं का वह समुदाय है जहाँ द्वैतीयक समूहों और नियन्त्रणों, उद्योग और व्यापार, घनी आबादी और अवैयंक्तिक सम्बन्धों की प्रधानता हो। अतः हम कह सकते हैं कि नगर एक ऐसा जन-समुदाय होता है जिसकी अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। नगरों में विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे, व्यापार और वाणिज्य होते हैं। इस कारण देश-विदेश के विभिन्न भागों में विभिन्न जाति, प्रजाति, धर्म और वर्ग के लोग नगर में आकर बस जाते हैं। इसीलिए नगर की आबादी बहुत अधिक होती है। इस आबादी में एकरूपता न होकर विभिन्नता होती है।

आबादी अधिक होने अर्थात् नागरिक समुदाय का आकार बड़ा होने के कारण अधिकतर लोगों के साथ हमारा वैयक्तिक (Personal) सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है इस कारण नगर में द्वैतीयक समूहों और नियन्त्रणों की प्रधानता

होती है। पर इन सभी विशेषताओं का विकास एकाएक नहीं हो जाता है। एक क्रमिक प्रक्रिया के रूप में एक समुदाय के जीवन में इन विशेषताओं का विकास होता है। उसी प्रक्रिया को नगरीकरण (Urbanization) कहते हैं। अगली विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।

नगरीकरण का अर्थ
(Meaning of Urbanization)

नगरीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा गाँव धीरे-धीरे नगर में परिवर्तित हो जाता है—यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा गाँव की परिस्थितिगत अवस्थाओं में इस तरह परिवर्तन हो जाता है कि वह फिर गाँव नहीं रह जाता और वहाँ के लोगों के जीवन में 'शहरीपन' आ जाता है। बर्गेल ने भी ग्रामों को नगरीय क्षेत्र में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया को ही नगरीकरण की संज्ञा दी गई है। इस दृष्टिकोण से नगरीकरण का अर्थ है **किसी ग्रामीण समुदाय में धीरे-धीरे उद्योग-धन्धे, व्यापार-वाणिज्य, शिक्षा संस्थाओं आदि का स्थापित हो जाना और उसी के फलस्वरूप वहाँ विभिन्न जाति, धर्म, सम्प्रदाय तथा वर्ग के लोगों का आकर बस जाना। फलतः आबादी घनी हो जाना, विभिन्न प्रकार के पेशों का पनपना, यातायात और संचार के साधनों में विकास होना, जनसंख्या के दबाव के कारण समुदाय के क्षेत्र में निरन्तर विस्तार होना, बड़े पैमाने में उत्पादन कार्य होना, पुलिस-कोर्ट आदि की क्रियाशीलता बढ़ना तथा वैयक्तिक सम्बन्धों का न होना है।**

इस प्रकार कृषि आधारित निवास क्षेत्र गैर-कृषक शहरी निवास क्षेत्र में बदल जाता है। शहरी केन्द्रों का विकास औद्योगिक और व्यावसायिक गतिविधियों में आई तेजी का परिणाम है। कस्बों और नगरों के आकारों में वृद्धि के कारण नगरीय जनसँख्या में बृद्धि नगरीकरण का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इन केन्द्रों की सबसे बड़ी विशेषता गैर-कृषक समुदाय का होना है। नगरीय परिवेश एक विशिष्ट तरह के सामाजिक जीवन का निर्माण करता, जिसे शिकागो स्कूल के एक प्रमुख समाजशास्त्री लुईवर्थ के अनुसार नगरीयता कहते हैं। नगरों में सामाजिक जीवन अधिक औपचारिक और अवैयक्तिक होता है। आपसी सम्बन्ध जटिल श्रम-विभाजन पर आधारित होते हैं और इसकी प्रकृति अनुसंधानात्मक होती है।

भारत में नगरीकरण
(Urbanization in India)

भारत में नगरीय जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। इस वृद्धि में विशेष बात यह है कि छोटे कस्बों या नगरों में जनसँख्या वृद्धि की गति की तुलना में बड़े दसलक्षी (मेगा सिटीज) नगरों में जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। भारत का राष्ट्रीय आय में कृषि क्षेत्र का योगदान निरन्तर कम होने, कृषि क्षेत्र में श्रम बचत तकनीकी का प्रयोग बढ़ने, ग्रामीण क्षेत्रों में और कृषि-रोजगार में वृद्धि न होने के कारण आय और रोजगार की तलाश में ग्रामीण गरीब जनता नगरों की ओर पलायन कर रही हैं जहाँ सभी की योग्यता स्तर का कुछ न कुछ रोजगार अवश्य दिखाई पड़ता है। इतना ही नहीं, देश के धीमे विकास के कारण जीवन के लिए आवश्यक सुविधाएँ भी अभी तक केवल बड़े नगरों में उपलब्ध हो पाई हैं जिससे गाँव का अमीर वर्ग भी नगरों की ओर स्थानांतरित हो रहा है। परिणामस्वरूप बड़े नगरों की जनसंख्या में अस्वाभाविक वृद्धि परिलक्षित हो रही है।

नगरों का इतिहास
(History of Urbanization)

भारत में नगरों का इतिहास ईसा पूर्व 3000 वर्षों से चला आ रहा है। पुरातात्विक खुदाई से प्राचीन नगरीकरण के संकेत मिले हैं। इतिहासकार बताते हैं कि सही मायनों में नगरीय सभ्यता का विकास सिन्धु घाटी सभ्यता से जुड़ा हुआ है। महत्त्वपूर्ण नगरीय केन्द्रों के रूप में मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा के विकास से हुआ था।

इन दो नगरों के अतिरिक्त कई और नगरीय बस्तियों जैसी उत्तरी राजस्थान में कालीबंगन, गुजरात में लोथल और हरियाणा में बनवाली का उदय प्रमुख नगरीय केन्द्रों के रूप में हुआ था। मध्यकाल के दौरान नगरीकरण उत्तर में श्रीनगर से लेकर दक्षिण में मदुरई तक फैला था। पुराने नगरों की यह एक विशेषता रही है कि यह अधिकतर बड़ी नदियों के किनारे बसे हुए हैं। इस प्रकार ये व्यापारिक केन्द्रों के साथ-साथ तीर्थ स्थान के रूप में भी प्रसिद्ध हैं।

भारत में आधुनिक उद्योगों और नगरों का विकास पश्चिम से सम्पर्क के बाद बड़ी तेजी से हुआ है। फलस्वरूप नगरों में बड़ी तेजी से जनसंख्या का फैलाव हुआ है। अब तो नगरों में जनसंख्या की स्थिति विस्फोटक हो गई है। दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों की संख्या में वृद्धि हो रही है।

दसलक्षी नगरों में जनसंख्या
(Cities which have more than Ten Lacs Population)

शहर की ओर तेज आगमन से दसलक्षी शहरों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। 1981 में 12 दसलक्षी शहर थे, 1991 में इनकी संख्या 23 हो गई और वर्ष 2001 की जनगणना में ये बढ़कर 35 हो गए। इस तरह 20 वर्षों में दसलक्षी शहरों की संख्या लगभग तीन गुनी बढ़ी।

शहरों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ इनमें रहने वाली जनसंख्या भी तेजी से बढ़ी। वर्ष 1981 में दसलक्षी शहरों में 4.21 करोड़ लोग रहते थे। वह संख्या में 1991 में बढ़कर 7.1 करोड़ हो गई और वर्ष 2001 में 10.8 करोड़ तक पहुँच गई। शहरी जमाव प्रतिशत की दृष्टि से देखा जाए तो वर्ष 1981 में भारत की कुल जनसंख्या का 6.15 प्रतिशत 1991 में बढ़कर 8.39 और 2001 में बढ़कर 10.5 प्रतिशत हो गया।

भारत के वर्तमान 35 दसलक्षी शहरों में कुछ की वृद्धि अत्यन्त तेज है। पिछले 20 वर्षों 1981 की तुलना में 2001 में भारत की कुल जनसंख्या का सूचकांक 100 से बढ़कर 150.3 हुआ जबकि कुल शहरी जनसंख्या सूचकांक कहीं अधिक (182.4) हो गया। इसकी तुलना में कुछ दसलक्षी शहरों के जनसंख्या सूचकांक में बहुत अधिक वृद्धि हुई। सूरत (304), लुधियाना (229.8), जयपुर (229), लखनऊ (226.7) दिल्ली (223.3), पुणे (222.8), विशाखापतनम (220. 0), मुम्बई (219.0) और हैदराबाद (217.4) में बीस वर्षों में जनसंख्या दुगुनी से भी अधिक हो गई और सूरत में तो तीन गुनी से भी अधिक हो गई। इस तेजी के पीछे इन शहरों में उद्यम के विस्तार का बहुत बड़ा हाथ है।

आज भारत में नगरीकरण की प्रवृत्ति लगातार बढ़ती जा रही है। इसका सबसे प्रमुख कारण 'ग्रामीण जनसंख्या का नगरों की ओर पलायन' है। आज बड़ी संख्या में लोग रोजगार की तलाश में गाँवों को छोड़कर नगरों की ओर आ रहे हैं। यातायात के साधनों ने अब दूरियाँ कम कर दी हैं। आज यदि हम दिल्ली में ही देखें तो लगभग सभी राज्यों के लोग रोजगार हेतु यहाँ आ रहे हैं। इसके अलावा मौसमी बेरोजगारी भी लोगों को गाँवों से नगरों की ओर पलायन करने हेतु प्रेरित करती है। आज हम पंजाब, हरियाणा के खेतों में मजदूरों को देखें तो पता चलता है कि यहाँ अधिकांश मजदूर बिहार, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश आदि राज्यों के हैं। ये मजदूर मौसमी प्रवसन करते हैं तथा बाद में अपनी पसन्द के स्थानों में स्थायी रूप से बस जाते हैं।

नगरीयवाद
(Urbanisim)

नगरीय जीवन के साथ व्यक्तियों के समायोजन की प्रक्रिया को नगरीयवाद या नगरीयता कहा जाता है। शिकागो सम्प्रदाय के लुईवर्थ के अनुसार नगरीयवाद था नगरीयता बनावट का तरीका नहीं है। अपितु यह जीवन की एक विशिष्ट शैली है। यह शैली ग्रामीण जीवन शैली से भिन्न होती है। नगरीयवाद की प्रमुख विशेषताएँ—अवैयक्तिक सामाजिक अन्तःक्रिया, औपचारिक सम्बन्ध, अत्यधिक गतिशीलता तथा परिवर्तनशीलता, समय और लय का दबाव, गुमनामपन, काम करने के लिए निर्जीव शक्ति का प्रयोग, उन्नत प्रोद्योगिकी पर आधारित सामाजिक जीवन, परिवारवाद का ह्रास, आधुनिकता के नाम पर अश्लीलता का आवरण ओढ़ना, फास्ट फूड जैसे आहारों का अत्यधिक सेवन करना आदि हैं। इस प्रकार, नगरीकरण और नगरीयवाद में अन्तर है। नगरीयवाद एक दशा या परिस्थितियों का एक पुँज है, जबकि नगरीकरण परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति नगरीय जीवन शैली का विकार करता है।

नगरीकरण के सामाजिक परिणाम
(Social Consequences of Urbanization)

आज भी भारत आधारभूत रूप में गाँवों का ही एक देश है। यहाँ के लोगों के दिल व दिमाग में गाँव के सामाजिक-सांस्कृतिक तत्त्व ही जड़ पकड़े हुए हैं। पर आज नगरीकरण की प्रक्रिया भी तेजी से अपने प्रभाव का विस्तार करती जा रही है। इसीलिए भारत में इस प्रक्रिया का विशेष प्रभाव पड़ा है क्योंकि नगरीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न नवीन परिस्थितियाँ व सामाजिक-आर्थिक शक्तियाँ इस गाँव-प्रधान देशवासियों के लिए अभिनव ही है। इसी कारण नगरीकरण की प्रक्रिया ने हमारे सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में परिवर्तन ला दिया है और हमारा सामाजिक, आर्थिक, मानसिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं नैतिक जीवन एक नया मोड़ ले रहा है। नगरीकरण ये प्रभाव स्वस्थ भी है और अस्वस्थ भी। हम संक्षेप में, उन दोनों प्रकार के प्रभावों की विवेचना यहाँ करेंगे—

(1) सामाजिक-सांस्कृतिक सम्पर्कों का विस्तृत क्षेत्र (Wider area of Social-cultural Contacts)—नगरीकरण का एक उल्लेखनीय प्रभाव यह है कि इसके फलस्वरूप सामाजिक-सांस्कृतिक सम्पर्कों का क्षेत्र स्वतः ही बढ़ जाता है क्योंकि नगरों में जो सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं उनसे फायदा उठाने के लिए

विभिन्न देश-विदेश के तथा अलग-अलग जाति, धर्म प्रजाति, सम्प्रदाय आदि के लोग शहर में आकर बस जाते हैं जिसके फलस्वरूप केवल विभिन्न प्रकार के लोगों से नहीं अपितु उनके विविध प्रथा, परम्परा, रीति-रिवाज, आदर्श, सामाजिक मूल्य आदि से भी परिचित होने का मौका हमें मिलता है। हमें अपने देश के बारे में ही नहीं अपितु विदेशों के बारे में भी बहुत कुछ जान जाते हैं क्योंकि शहरों में समाचार पत्र, पत्रिका, पुस्तक, रेडियो आदि के माध्यम से दूसरे प्रान्तों या देशों के साथ सम्पर्क स्थापित करना सरल होता है। ये सभी तत्त्व सामाजिक-सांस्कृतिक सम्पर्क के क्षेत्र को विस्तृत करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

(2) **शिक्षा व प्रशिक्षण सम्बन्धी अधिक सुविधाएँ** (More Educational and Training Facilities)—नगरीकरण का एक ओर यह प्रभाव होता है कि शिक्षा व प्रशिक्षण प्राप्त करने की सुविधाओं में स्वतः ही वृद्धि हो जाती है। इसका कारण भी स्पष्ट है। नगरों में व्यापार-वाणिज्य या अन्य उद्योग-धन्धों में लगे लोग अपेक्षाकृत अधिक पढ़े-लिखे होते हैं और अपने बाल-बच्चों को उचित शिक्षा देने के प्रति उनका झुकाव भी अधिक होता है। इसीलिए नगरीकरण के साथ-साथ शिक्षा व प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधाओं का भी विस्तार होता जाता है। कुछ नगरों में नगरीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने में शिक्षा व प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधाओं का अत्यधिक योगदान होता है। इन्हीं सुविधाओं के कारण नगर का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है। शिक्षा का जो विस्तार आज हमें अपने देश में देखने को मिलता है। उसका श्रेय बहुत-कुछ इस देश की बढ़ती हुई नगरीकरण की प्रक्रिया को ही है। कम्प्यूटर तथा अनेक टेक्निकल कोर्स करके शहरों में नौकरी की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

(3) **व्यापार और वाणिज्य का विस्तार** (Progress in Trade and Commerce)—नगरीकरण का प्रभाव व्यापार और वाणिज्य पर भी पड़ता ही है। नगरों के विकास, चाहे वह किसी भी कारण से क्यों न हो, के साथ-साथ व्यापार और वाणिज्य की प्रगति भी निश्चित रूप में होती ही है क्योंकि नगरीकरण के साथ साथ आबादी बढ़ती है और आबादी बढ़ने से आवश्यकताएँ बढ़ती हैं और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यापार और वाणिज्य का विस्तार आवश्यक हो जाता है। इसीलिए नगरीकरण के साथ-साथ नए बाजार, हाट, मण्डी, शापिंग काम्पलेक्स, शोरूम आदि का भी उद्भव होता जाता है।

(4) **यातायात व संदेशवाहन की सुविधाओं में वृद्धि** (More Transport and Communication Facilities)—नगरीकरण का एक स्वस्थ प्रभाव यह

होता है कि नगर के विकास के साथ-साथ यातायात व संदेशवाहन की सुविधाओं का भी प्रसार होता जाता है क्योंकि इसके बिना नगरवासियों का जीवन सुविधाजनक नहीं हो सकता। नागरिक परिस्थितियाँ यह माँग करती हैं कि यातायात और संदेशवाहन के साधनों को विस्तृत किया जाए। नगरों में उद्योग-धन्धे, व्यापार आदि बड़े पैमाने पर होते हैं और इनके लिए यातायात और संदेशवाहन की समस्त सुविधाओं का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए नगर के विकास के साथ-साथ डाकघर, टेलीफोन, इन्टरनेट कैफे रेलवे स्टेशन, कोरियर सर्विस आदि का भी विकास होता जाता है और शहर के अन्दर बस तथा टैक्सी सर्विस, ऑटो रिक्शा आदि उपलब्ध होते हैं। ये सभी सुविधाएँ जल्दी ही नागरिक जीवन के आवश्यक अंग बन जाते हैं।

(5) राजनैतिक शिक्षा (Political Education)—नगरीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ राजनैतिक दलों की क्रियाशीलता भी बढ़ जाती है। वास्तव में नगर राजनैतिक दलों का आखाड़ा होता है और वे अपने-अपने आदर्शों व सिद्धान्तों को फैलाने के लिए न केवल अत्यन्त प्रयत्नशील रहते हैं अपितु एक राजनैतिक दल दूसरे दल को नीचा दिखाने के लिए भी भरसक प्रयत्न करता रहता है। फलतः राजनैतिक दाँव-पेंच सीखने का अवसर नगरों में जितना मिलता है उतना गाँव में कदापि नहीं। इस अर्थ में राजनैतिक शिक्षा देने में नगरीकरण का योगदान उल्लेखनीय ही होता है। यह इसलिए भी सम्भव होता है क्योंकि नगर में यातायात और संदेशवाहन के साधन उन्नत स्तर पर होते हैं और उनके व टेलीविजन, पत्रिका, समाचार-पत्र आदि के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक जीवन में भाग लेना या कम से कम उसके सम्बन्ध में जानकारी हासिल करना हमारे लिए सम्भव होता है। यह राजनैतिक शिक्षा को व्यावहारिक स्तर पर लाने में सहायक सिद्ध होता है।

(6) सामाजिक सहनशीलता (Social Tolerance)—नगरीकरण का एक उल्लेखनीय प्रभाव यह भी होता है कि नगर निवासियों में सामाजिक सहनशीलता पर्याप्त मात्रा में पनप जाती है। इसका कारण भी स्पष्ट है। नगरीकरण के साथ-साथ विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, जाति वर्ग, प्रजाति, प्रान्त तथा देश के लोग आकर बस जाते हैं और प्रत्येक को एक-दूसरे के साथ मिलने-जुलने का तथा एक-दूसरे को अधिक निकट से देखने-जानने का अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार के सम्पर्क से एक-दूसरे के प्रति सहनशीलता पनपती है।

(7) पारिवारिक मूल्यों और संरचना में परिवर्तन (Changes in Fam-

ily Values and Structure)—नगरीकरण के साथ-साथ पारिवारिक मूल्यों तथा संरचना में भी तेजी से परिवर्तन होता जाता है। गाँव में परिवार सामाजिक जीवन की एक आधारभूत इकाई होती है, यहाँ तक कि व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा भी बहुत-कुछ उसके परिवार पर ही निर्भर करती है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि गाँव में परिवार अपने सदस्यों की प्रायः सभी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसके विपरीत, नगरीकरण के साथ-साथ परिवार के प्रायः सभी कार्य बाहर की विशेष समितियों के हाथ में होते हैं। इसीलिए परिवार को अधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया जाता है। विवाह परिवार के प्रति कर्त्तव्य समझकर नहीं अपितु व्यक्तिगत सुख-सुविधा को ध्यान में रखकर किया जाता है। विवाह जीवन-भर का बन्धन है, यह पारिवारिक मूल्य भी नगरीकरण के साथ-साथ दुर्बल होता जाता है। विधवाओं के प्रति मनोभाव भी बदल जाता है और विधवा-पुनर्विवाह के अनुकूल जनमत जागृत हो जाता है। उसी प्रकार नगरों में लड़के-लड़कियों का एकसाथ शिक्षा पाना, स्त्री-पुरुषों का एकसाथ काम करना, आपस में मिलने-जुलने की अधिक सुविधाएँ, सिनेमा का प्रभाव, सामाजिक सहनशीलता आदि ऐसे कारण हैं जिससे नगरों में रोमान्स, अन्तर्जातीय विवाह और विवाह-विच्छेद का प्रचलन अधिक होता है। इसकें अतिरिक्त, नगरीकरण के साथ-साथ मकानों की समस्या अत्यन्त गम्भीर हो जाने के फलस्वरूप संयुक्त परिवार को बनाए रखना सम्भव नहीं होता। नगरीकरण संयुक्त परिवार के विघटन का एक कारण बन जाता है।

(8) **गन्दी बस्तियों का विकास (Development of Slums)** नगरीकरण के साथ-साथ जब औद्योगीकरण (Industrialization) की प्रक्रिया भी चलती रहती है तो नगर की जनसंख्या अति तीव्र गति से बढ़ती चली जाती है। पर जिस अनुपात में जनसंख्या बढ़ती है उसी अनुपात में नए मकानों का निर्माण नहीं हो पाता है। इसीलिए नगरीकरण का एक प्रभाव गन्दी बस्तियों का विकास होता है क्योंकि मकानों की कमी से फायदा उठाने के लिए मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति रखने वाले लोग श्रमिकों के लिए बस्तियाँ बना देते हैं और उनसे खूब किराया वसूल करते हैं। ये सब मकान एक-दूसरे से मिले हुए बनते हैं और आने-जाने के लिए छोटी और संकरी गलियाँ होती हैं। कमरे में हवा-रोशनी आने का एक मात्र रास्ता एक दरवाजा होता है जो कि इतना नीचा होता है कि उसमें से बिना झुके आना-जाना असम्भव होता है। अनेक स्त्री-पुरुषों को एक ही कमरे में रहना पड़ता है और बच्चे उनके यौन-व्यवहारों को खुले तौर पर देखते और सीखते रहते हैं। इनमें हवा-रोशनी का इतना कम प्रबन्ध होता है कि दिन में भी चिराग जलाना

पड़ता है। बच्चों को खेलने-कूदने के लिए केवल रास्ते या गलियों के अतिरिक्त और कुछ भी उपलब्ध नहीं होता है।

(9) सामाजिक मूल्यों तथा सम्बन्धों में परिवर्तन (Changes in Social Values and Relationships) नगरीकरण के फलस्वरूप सामाजिक मूल्यों तथा सम्बन्धों में भी परिवर्तन हो जाते हैं। नगरीकरण के साथ-साथ व्यक्तिवादी (individulistic) आदर्श पनपता है। नगरों में धन तथा व्यक्तिगत गुणों का अधिक महत्त्व होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी ही चिन्ता करता है और अपने स्वार्थों की रक्षा के हेतु जी-जान लगा देता है। उसका प्रयत्न अपने ही व्यक्तित्व का विकास करना तथा अधिकाधिक धन एकत्र करना है क्योंकि इन्हीं पर उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा निर्भर करती है। इसीलिए नगरीकरण का एक प्रभाव व्यक्तिगत स्वार्थ की बेदी पर सामुदायिक स्वार्थ की बलि चढ़ा देना होता है। उसी प्रकार नगरीकरण के साथ-साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध अवैयक्तिक सामाजिक सम्बन्धों (impersonalized social relations) में बदल जाता है। कोलकाता, मुम्बई जैसे बड़े नगरों में तो आठ-दस मन्जिल वाले एक ही मकान में रहने वाले व्यक्तियों में व्यक्तिगत सम्बन्धों का नितान्त अभाव होता है। उसी प्रकार नगरीकरण 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धान्त का हनन करके फिजूल-खर्ची और बाहरी ठाठ-बाट की प्रवृत्ति को पनपाता है। नगरीकरण का एक प्रभाव फैशन का विस्तार और उसके पीछे पागलों की भाँति भागना होता है। उसी प्रकार जाति-पाँति के आधार पर भेद-भाव, छुआछूत की भावना आदि नगरीकरण के साथ-साथ दुर्बल पड़ जाते हैं और इनसे सम्बन्धित सामाजिक मूल्य बदल जाते हैं। विभिन्न जाति के सदस्य व्यावहारिक जीवन में एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखने को बाध्य होते हैं। सामाजिक दूरी का घटना नगरीकरण का एक उल्लेखनीय प्रभाव कहा जा सकता है। दूसरी ओर धन के आधार पर विभिन्न वर्गों में दूरी शहरों में अधिक देखने को मिलती है।

(10) मनोरंजन का व्यापारीकरण (Commercialization of Recreation)—नगरीकरण का एक और उल्लेखनीय प्रभाव मनोरंजन के साधनों का व्यापारीकरण है अर्थात् सिनेमा, थियेटर, नाइट क्लब, संगीत सम्मेलन, खेल-कूद आदि मनोरंजन के सभी साधनों का आयोजन लाभ उठाने के उद्देश्य से किया जाता है। इसीलिए इनमें शीलता या स्वस्थ प्रभाव का उतना ध्यान नहीं रखा जाता है जितना कि उन्हें दर्शकों के लिए अधिकाधिक आकर्षक बनाकर उनसे पैसा लेने के प्रति सचेत रहा जाता है। सस्ते स्तर के गाने, गन्दे मजाक, काम-भावना को

जागृत करने वाले संवाद व दृश्य, सिनेमा, फैशन शो, क्लब आदि कॉलेज के जीवन के आवश्यक अंग बन जाते हैं।

(11) दुर्घटना, बीमारी व गन्दगी (Accidents, Diseases and Insanitary Conditions)—नगरीकरण के साथ-साथ यातायात के साधनों में, मिल-कारखानों आदि में जो प्रगति होती है उसका एक स्वाभाविक परिणाम दुर्घटनाओं में वृद्धि है। नगर में कौन किस समय मोटरकार या बस के नीचे दब जाएगा या रेलगाड़ी से गिर जाएगा या मशीन में फँस जाएगा यह कोई भी कह नहीं सकता। उसी प्रकार नगरीकरण के साथ-साथ कुछ विशेष प्रकार के रोग नगर-निवासियों को घेर लेते हैं। औद्योगिक बीमारियाँ नगरों में ही होती हैं, उसी प्रकार तपेदिक भी एक नागरिक बीमारी ही है। इतना ही नहीं, नगरों में घनी आबादी होने के कारण गन्दगी भी अधिक होती है। यह स्थिति उन नगरों में अधिक गम्भीर होती है जहाँ कि नालों (drainage) की उचित व्यवस्था अब भी नहीं है। गन्दगी के कारण भी अनेक प्रकार की बीमारियाँ नगर-निवासियों को आ घेरती हैं। लाख प्रयत्न करने पर भी नगरीकरण के परिणामस्वरूप होने वाली दुर्घटना, बीमारी तथा गन्दगी की समस्या को टाला नहीं जा सकता।

(12) सामुदायिक जीवन में अनिश्चितता (Uncertainty in Community Life)—नगरों की यह सर्वप्रथम समस्या है और समस्या इसलिए है कि इस अनिश्चितता के कारण नगरों में सामुदायिक भावना या 'हम' की भावना पनप नहीं पाती है। नगरों में विभिन्न प्रान्त, देश, धर्म, सम्प्रदाय, जाति और प्रजाति के लोग रहते हैं जिसके कारण नगर के जीवन में एकरूपता पनप नहीं पाती है। यहाँ कोई रात को सोता है तो कई दिन में, कोई आज रोजगार में लगा हुआ है तो कल बेकार है, आज अमीर है तो कल भिखारी भी बन सकता है। यह अनिश्चितता हर पग हर क्षण है। सुबह घर से गया हुआ पुत्र या पति शाम को घर लौटकर आएगा भी या नहीं, इसकी भी कोई निश्चितता नहीं है। यह अनिश्चितता सामुदायिक जीवन को विघटित करने वाले तत्त्वों को जन्म देती है।

(13) सामाजिक विघटन (Social Disorganization)—यह नगरों की अन्य समस्या है। नगरों में धर्म, जाति, रीति-नीति, कानून, परम्परा, प्रथा, आचार आदि की विविधता होती है और सामुदायिक जीवन में पर्याप्त अनिश्चितता हुआ करती है। इसका परिणाम यह होता है कि नगरों में निवास करने वालों की सामाजिक स्थिति तथा कार्यों (status & roles) में भी अनिश्चितता होती है। यह बात व्यक्ति के सम्बन्ध में ही नहीं, नगरों की विभिन्न संस्थाओं के सम्बन्ध में भी

सच कही जा सकती है। व्यक्ति तथा संस्थाओं की स्थिति व कार्यों में अनिश्चितता अथवा अधिक परिवर्तनशीलता सामाजिक विघटन को उत्पन्न करती है। नगरों में सामाजिक परिवर्तन की गति भी तेज होती है जिसके कारण सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है। नगरों में बैंक फेल करने, विद्रोह होने, क्रान्ति अथवा युद्ध छिड़ने की भी सम्भावना अधिक होती है जिनके कारण भी सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है जो कि स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिए घातक सिद्ध होती है।

(14) पारिवारिक विघटन (Family Disorganization)—नगरों की एक अन्य प्रमुख समस्या परिवार का विघटन है। नगरों में परिवार के सदस्यों में आपसी सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ नहीं होता है क्योंकि पढ़ने-लिखने, प्रशिक्षण प्राप्त करने, नौकरी करने मनोरंजन प्राप्त करने आदि के लिए घर के अधिकतर सदस्यों को परिवार से बाहर ही अधिक समय व्यतीत करना पड़ता है। इस कारण परिवार के सदस्यों का एक दूसरे पर नियंत्रण भी बहुत कम होता है जो कि परिवार को विघटित करने में प्रायः सहायक ही सिद्ध होता है। नगर के परिवारों में घर की बहू-बेटियाँ भी पढ़ी-लिखी होती हैं और जब वे परिवार के परम्परागत आधारों को अस्वीकार करती हैं या अपने अधिकारों के सम्बन्ध में अधिक सचेत हो जाती हैं तो परिवार का विघटन ही होता है। माता-पिता दोनों के नौकरी करने से बच्चों के लालन-पालन पर अकेलेपन की वजह से बुरा प्रभाव पड़ता है। समझदार माता-पिता घर और बाहर के जीवन में संतुलन बनाये रखते हैं। फिर भी, बच्चों के व्यक्तित्व का विकास गलत राह ले लेता है। इसमें भी पारिवारिक विघटन उत्पन्न होता है। प्रायः उसी प्रकार हो सकता है कि पति और पत्नी के दृष्टिकोण में, विचार या आदर्शों में, सामाजिक स्थिति में, शिक्षा या पेशों में ऐसी मौलिक भिन्नताएँ हों जो कि उन दोनों के बीच तनाव की स्थिति उत्पन्न करें और वे अन्त में विवाह-विच्छेद को ही उससे छुटकारा पाने का एकमात्र उपाए मान बैठें। इतना ही नहीं, नगरों में जो रोमांस का अधिक्य, निर्धनता, बेरोजगारी, वेश्यावृत्ति, शराबखोरी, दुर्घटना आदि की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं, उनसे भी पारिवारिक विघटन उत्पन्न होते हैं।

(15) व्यक्तिगत विघटन (Individual Disorganization)—यह नगरों की एक अन्य उल्लेखनीय समस्या है। व्यक्तिगत विघटन के निम्नलिखित पाँच स्वरूप नगरों में देखने को मिलते हैं जिनमें से प्रत्येक स्वयं ही एक गम्भीर समस्या है—

(i) अपराध तथा बाल-अपराध—नगरों में निर्धनता, व्यापारिक, मकानों

की समस्या, बेरोजगारी, स्त्री-पुरुष के अनुपात में भेद, नशाखोरी, व्यापारिक मनोरंजन, व्यापार चक्र, प्रतिस्पर्द्धा, परिवार का शिथिल नियंत्रण, वेश्यावृत्ति, बाल-श्रम आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण कारक विद्यमान होते हैं जिनके कारण नगरों में अपराध और बाल-अपराध अधिक देखने को मिलते हैं।

(ii) आत्महत्या—नगरों में निर्धनता, बेरोजगारी, असुखी पारिवारिक जीवन, प्रतिस्पर्द्धा में असफल होने पर जीवन के सम्बन्ध में घोर निराशा, रोमांस या प्रेम में असफलता, व्यापार में असफलता आदि की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं और इनमें से किसी भी अवस्था में व्यक्ति इस प्रकार की एक असहनीय मानसिक उलझन में फंस सकता है जिससे छुटकारा पाने के लिए वह आत्महत्या को ही चुन लेता है यही कारण है कि गाँवों की अपेक्षा नगरों में कहीं अधिक आत्महत्याएँ होती हैं।

(iii) वेश्यावृत्ति—नगर का पर्यावरण वेश्यावृत्ति और लड़कियों के अनैतिक व्यापार के लिए अनुकूल होता है। नगरों में श्रमिक वर्ग अधिक होते हैं जो कि नगरों में मकानों की समस्या तथा महँगाई के कारण अपने बीबी-बच्चों के साथ न रहकर अकेले ही रहने को बाध्य होते हैं। इनके लिए वेश्यालय मनोरंजन का एक स्थान होता है। नगरों में पाए जाने वाली निर्धनता तथा बेरोजगारी भी अनेक स्त्रियों को वेश्यावृत्ति को बनने को बाध्य करती है। नगरों में रोमांस का भी आधिक्य होता है और उस रोमांस के चक्कर में बहुधा लड़कियों को अपने प्रेमियों के धोखे का शिकार बनना पड़ता है, वे अवैध रूप से गर्भवती हो जाती है और घर से भाग आती हैं। अन्त में दलालों के चक्कर में आकर वेश्याएँ बन बैठती हैं।

(iv) नशाखोरी—मद्य-पान आदि व्यक्तिगत विघटन की ही एक अभिव्यक्ति है। नगरों में यह समस्या विशेष रूप से उग्र है। इस समस्या का चरम रूप तब देखने को मिलता है जबकि नगरों में बड़ी-बड़ी पार्टियों, 'डिनरों' या 'ऐट होम' में, जहाँ कि समाज के उच्चस्तरीय 'सज्जनों' का जमघट होता है, मद्यपान को सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक और सामान्य शिष्टाचार के रूप में स्वीकार किया जाता है। वैसे साधारणतया नगरों में दिन-भर का थका-माँदा श्रमिक शाम को अपनी थकान को दूर करने के लिए शराब, ताड़ी, भाँग, गाँजा, चरस आदि का सेवन करता है। शहरों में, जो अपने जीवन में असफल हुए हैं, ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं होती है।

(v) भिक्षावृत्ति—यह भी नगरीकरण की प्रक्रिया से जुड़ी हुई एक प्रमुख समस्या है। नगरों में, विशेषकर धार्मिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण नगरों में, लोग न

केवल नगरों की गरीबी, भुखमरी और बेरोजगारी से तंग आकर भीख माँगते हैं अपितु भिक्षावृत्ति को एक व्यापारिक रूप भी दे देते हैं। बड़े-बड़े नगरों में भिखारियों के मालिक होते हैं जिनका कि काम भिखारी बनाना, भिखारियों को भीख माँगने के तरीके सिखाना, उनके शरीर को इस भाँति विकृत या जराजीर्ण कर देना होता है जिससे कि लोगों का दया-भाव अपने-आप उभरे और मालिक को अधिकाधिक लाभ हो। ऐसे भिखारियों के लिए मालिक की ओर से सामान्य खाने-पीने, रहने तथा कपड़ों का प्रबन्ध कर दिया जाता है जिसके बदले में मालिक उनसे उनकी सारे दिन की भिक्षा से हुई आमदनी को प्राप्त कर लेता है।

(16) नगरीकरण के अन्य सामाजिक-आर्थिक प्रभाव (Other Socio-economic effects of Urbanization)—पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था का विकास, राष्ट्रीय धन का असमान वितरण, आर्थिक संकट, बेकारी, औद्योगिक झगड़े, मानसिक चिन्ता और रोग, संघर्ष व प्रतिस्पर्द्धा (conflict and competition), सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि, श्रम-विभाजन व विशेषीकरण, 'हम' की भावना का प्रभाव, आदि नगरीकरण के अन्य प्रभाव हैं जो कि भारत में देखने को मिलते हैं।

नगरीय समस्याएँ
(Problems of Urban Areas)

भारत में नगरीकरण की गति बड़ी तेजी से बढ़ रही है। इसमें मानव जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित किया है। नगरीय केन्द्रों के फैलाव में अनेक प्रकार की समस्याओं को भी जन्म दिया है। नगरीय परिवेश मलिन हो गया है। जीवन निम्न स्तरीय होता जा रहा है। बहुत ज्यादा भीड़ भाड़ तथा प्रदूषण, आवास झोपड़ पट्टी, अपराध तथा बाल अपराध, नशाखोरी, वैश्यावृत्ति, बिजली पानी की समस्या आदि नगरों की प्रमुंख समस्याएँ हैं। इस समस्याओं की चर्चा हम पिछले पृष्ठों में भी कर चुके हैं।

नगरों के आकार के निर्धारण में नगरों में उद्योगों की प्रकृति का भी प्रभाव पड़ता है किसी विशेष उद्योग पर आधारित नगर का आकार छोटा होता है और फैलाव की गति धीमी होती है। उद्योगों में विविधता रखने वाले शहर का आकार बड़ा होता है और नगर के विस्तार की गति भी तेज होती है। राजधानियों में विविधता होने के कारण विकास तेज गति से होता है। विविधतापूर्ण नगर प्राकृतिक आपदाओं के समय पीड़ित आबादी के अधिक आकर्षण का केन्द्र होते हैं अपेक्षाकृत उन नगरों के जिनमें विशिष्ट उद्योग ही स्थित होते हैं।

मलिन-बस्तियाँ (Slums)

शहरों में बढ़ती लागत के परिणामस्वरूप ऐसी बस्तियों का विकास होने लगता है जिनमें जीवन की आवश्यक सुविधाओं का अभाव होता है पर रहने की लागत कम होती है। इन्हें मलिन, तंग, गन्दी, बस्तियाँ या स्लम कहते हैं। भारत में अनेक जगहों में इन्हें 'चाल', 'चेरी', 'कटरा', 'आहता' और 'झुग्गी-झोपड़ी' के नाम से भी जाना जाता है। इन सभी का अर्थ ऐसी बस्तियों से है जहाँ निवास करने के लिए आवश्यक सुविधाओं जैसे—बिजली, पानी, सफाई, सड़क, स्कूल, अस्पताल आदि का अभाव होता है। मकान अत्यन्त छोटे और हवा-रोशनी प्रसाधन आदि सुविधाओं से विपन्न होते हैं। एक कमरे के मकान में एक परिवार या उससे भी अधिक लोग वास करते हैं। तेज शहरीकरण होने पर मलिन बस्तियों की संख्या बढ़ती जाती है और शहर का स्वरूप बिगड़ता जाता है।

वर्ष 2001 की जनगणना में मलिन बस्तियों की विशेष गणना की गई। देश में 607 जनगणना नगरों में मलिन बस्तियाँ सूचित की गई। पाया गया है कि इन जनगणना नगरों की 22 प्रतिशत जनसंख्या मलिन बस्ती में रहती है। अकेले महाराष्ट्र में 1.56 करोड़ लोग मलिन बस्तियों में रहते हैं। सर्वाधिक (76) मलिन बस्तियों की सूचना आन्ध्र प्रदेश ने दी है। उत्तर प्रदेश में 65, तमिलनाडु में 63, महाराष्ट्र में 62 और पश्चिम बंगाल में 51 मलिन बस्ती वाले नगर हैं।

प्रदूषण नगरों की एक दूसरी बड़ी समस्या है। प्रदूषण बढ़ने के कई कारण हैं। नगरों का प्रदूषित जल तथा औद्योगिक कचरे का लगभग 50 प्रतिशत भाग नदियों में बहा दिया जाता है। इसी प्रकार नगरीय उद्योगों का धुआँ और गैस वातावरण को प्रदूषित करता है। दिल्ली में वाहनों से निकलने वाला 64 प्रतिशत धुआँ और गैस वातावरण को प्रदूषित कर रहा है। दिल्ली को विश्व का सर्वाधिक प्रदूषित नगर कहा गया है।

इस गम्भीर प्रदूषण की समस्या को देखते हुए भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने इस मामले में हस्तक्षेप किया तथा दिल्ली की समस्त प्रदूषण फैलाने वाली इकाइयों को बन्द करने का आदेश दिया। इसी क्रम में प्रदूषण कम की दिशा में सर्वोच्च न्यायालय ने बसों और ऑटोरिक्शों में अप्रदूषणकारी संपीड़ित प्राकृतिक ईंधन (C.N.G) का प्रयोग अनिवार्य कर दिया है जिससे काफी-सीमा तक प्रदूषण कम हुआ है और दिल्ली वासियों को कुछ राहत मिली है। दिल्ली में मैट्रो रेल की शुरुआत भी प्रदूषण को कम करने की दिशा में एक प्रभावशाली कदम होगा।

नगरीय समस्याओं से छुटकारा–कुछ सुझाव
(Some Suggestions for removal of Problems of Urban Areas)

नगरीकरण विकास का परिणाम है। इससे बचा नहीं जा सकता। पर शहरों को मलिन बस्तियाँ बनने से बचाना आवश्यक है। इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य बातें निम्नवत हैं:–

(1) अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धांत यह बतलाता है कि किसी क्षेत्र के लिए अनुकूलतम जनसंख्या वह है जिस पर प्रति व्यक्ति उत्पादकता अधिकतम हो। नगर की अनुकूलतम जनसंख्या निर्धारण की शर्त भी यही हो सकती है पर तकनीकी के बदलते रहने से उत्पादकता की माप को निरपेक्ष रूप में स्वीकार करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में जीवन की गुणवत्ता (Quality of Life) का सूचकांक विकसित किया जाना चाहिए और उसके आधार पर ही शहरीकरण में उत्पन्न हो रही विसंगतियों पर नियंत्रण की योजना बनाई जानी चाहिए।

(2) शहर में सुविधाओं का समुचित विकास करने के लिए अत्यंत बड़े विनियोग की आवश्यकता पड़ती है। श्रम जाँच समिति (1946) तथा अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन दोनों का मानना है कि श्रमिकों के लिए अच्छी आवास व्यवस्था की जिम्मेदारी अकेले नियोक्ताओं की नहीं हो सकती। भारत की वर्तमान वित्तीय स्थिति ऐसी नहीं दिखती कि केन्द्र या राज्य सरकार शहरों के विकास के लिए आवश्यक धन उपलब्ध करा सके। स्थानीय शासन की विनीय स्थिति भी अत्यंत कमजोर है। ऐसे में नगरों के विकास की बड़ी योजनाओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए, धन प्राप्त करने के लिए बाण्ड जारी किए जाने चाहिए। बड़े कॉलोनाइजर्स के सहयोग से शहर के बाहरी क्षेत्र का विकास किया जाना चाहिएँ। योजना की लागत को धीरे-धीरे सुविधाओं का लाभ उठाने वालों से वसूल किया जाना चाहिए।

(3) शहर के बाहरी क्षेत्रों से शहर से यातायात सुविधा सस्ती और सुगम बनाने से भी शहर का फैलाव तेजी से होगा और मलिन-बस्तियाँ शहर के बीचों-बीच विकसित नहीं होंगी।

(4) स्थानीय प्रशासन की आय बढ़ाने के लिए शहरों की विभिन्न सुविधाओं का सम्बन्ध शुल्कों से कर देना चाहिए। इससे दूसरा लाभ यह भी होगा कि शहर में रहने की लागत बढ़ी होने से लोग शहरों के बाहरी हिस्सों में स्वेच्छा से बसने लगेंगे।

(5) शहर के बाहरी भागों में नियोजित कॉलोनियों में भवन-निर्माण हेतु ऋण देने के लिए वित्तीय संस्थाओं को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। नियोजित कॉलोनियों में आवास निर्माण में सुविधा तो अधिकतम देनी ही चाहिए पर नियमों के उल्लंघन पर कठोर दण्ड की व्यवस्था भी होनी चाहिए।

आधुनिकीकरण
(Modernization)

औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर यूरोप में सामन्तवाद का पतन हुआ, वहीं दूसरी ओर पूँजीवाद का विकास प्रारम्भ हुआ। उद्योगों के कारण नगरीकरण में गति पकड़ी—गाँव कस्बे बनने लगे, कस्बे नगरों में परिवर्तित हुए और धीरे-धीरे महानगर के विशाल स्वरूप में उभरकर सामने आए। यह सब आधुनिकता का प्रभाव था। 20 वीं शताब्दी में पहुँचकर आधुनिकता का परिवेश और अधिक व्यापक हो गया।

आधुनिकता का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Modernity)

आधुनिकता का सम्बन्ध एक खास तरह के अनुभव, एक विशेष प्रकार की संस्कृति से है। इसमें आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक गठबन्धन होता है जो इसे एक अलग पहिचान देता है। आधुनिकता ने सांस्कृतिक एकाधिकता (Cultural Pluralism) होती है। अनेक जातियाँ भाषाएँ और संस्कृति क्षेत्र होते हैं। आधुनिकता में लचीलापन होता है। और यह हमेशा नए आविष्कारों में जुटी रहती है। इस काल का सौन्दर्य बोध (Aesthetic) बड़ा परिष्कृत होता है। इसका पॉप कल्चर जादुई होता है—इसे खान-पान, रहन-सहन, सभी में देखा जा सकता है। आधुनिकता एक प्रकार से औद्योगिक अर्थव्यवस्था का आइना होता है। यही आधुनिकता जब अत्यधिक विकसित हो जाती है तब इसे उत्तर आधुनिकता कहते हैं। अब तो इसकी व्याख्या फास्ट-फूड, रेस्टोरेन्ट, क्रेडिट कार्ड, मोबाइल फोन तथा इन्टरनेट चेटिंग के संदर्भ में की जाने लगी है।

समाजशास्त्रियों ने आधुनिकता की परिभाषा विभिन्न सन्दर्भों में की है। रिटजर कहते हैं कि *''आधुनिकता एक ऐसा बेलगाम घोड़ा है जिसे किसी भी तरह नियंत्रण में रखना कठिन है यह चाहे तो सरपट दौड़ कर हवा से बातें कर सकता है और चाहे तो किसी अन्धेरे कुएँ में धकेल सकता है।''* कुछ समाजशास्त्री आधुनिकीकरण को उसके संरचनात्मक पक्ष तक सीमित रखते हैं तो कुछ उसके

सांस्कृतिक पहलु पर जोर देते हैं **प्रो० एम० एस० मोरे** के अनुसार, *"आधुनिकता एक जटिल अवधारणा है क्योंकि जिन समाज को हम आधुनिक कहते है उनमें भी पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है।"* परन्तु **प्रो० बी० वी० शाह** उपरोक्त मत से सहमत नहीं हैं। आपके मतानुसार, *"आधुनिकता केवल एक आर्थिक प्रक्रिया मात्र ही नहीं है, अपितु राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है।"* इस प्रकार यह एक बहुपक्षीय व जटिल प्रक्रिया है। जो कि एक समाज विशेष के सदस्यों के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करती है।

प्रो० शाह ने लिखा है कि **आर्थिक क्षेत्र में आधुनिकता** का परिणाम औद्योगीकरण होता है जिसके फलस्वरूप बड़े पैमाने में उत्पादन, मनुष्य, धन तथा सामग्री का बड़े पैमाने में संगठन, मशीनीकरण तथा नगरीकरण सम्भव होता है। **राजनैतिक क्षेत्र में आधुनिकता** की अभिव्यक्ति एक धर्म निरपेक्ष, प्रजातंत्रात्मक कल्याण राज्य के रूप में होती है जो कि शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान, रोजगार आदि के सम्बन्ध में अपने विस्तृत उत्तरदायित्व को स्वीकार करता है और कानून के सामने सबको समान मानते हुए सबके लिए न्याय उपलब्ध करवाता है। **सामाजिक क्षेत्र में आधुनिकता** प्रवत्त प्रस्थिति (ascribed status) की तुलना में अर्जित प्रस्थिति (achieved status) पर अधिक बल देती है और सभी के लिए विवाह, पेशा, परिवार तथा धर्म के मामले में समान अवसरों को उपलब्ध करवाती और अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है। **वैयक्तिक स्तर पर आधुनिकता** भाग्य पर भरोसा करने के विचार को त्यागने तथा अपने परिश्रम व प्रयासों पर विश्वास रखने पर बल देती है ताकि समाज का प्रत्येक सदस्य सामाजिक परिवर्तन व प्रगति की दशा में अपना सक्रिय योगदान कर सके। अतः स्पष्ट है कि आधुनिकता एक बहु-आयाम वाली आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रक्रिया है जो कि समाज के सदस्यों के सम्पूर्ण जीवन को एक नया रूप व अर्थ प्रदान करता है। **डॉ० श्यामा चरण दुबे** ने लिखा है, *"आधुनिकता एक प्रक्रिया है जो परम्परागत समाज में प्रौद्योगिकीकरण आधारित समाज की ओर अग्रसर होती है।"*

आधुनिकीकरण के पक्ष की व्याख्या करते हुए **प्रो० योगेन्द्र सिंह** ने कहा है कि आधुनिकीकरण सार्वजनिक दृष्टिकोण से मुद्दों और उनके मूल्याँकन की तार्किक प्रवृत्ति है। इस प्रकार तकनीकी और आर्थिक विकास किसी समाज में आधुनिकीकरण के स्तर को मापने का एक आम मापदण्ड नहीं है। वैज्ञानिक विश्वदृष्टि और मानवतावादी विचार के प्रति प्रतिबद्धता भी उतनी ही आवश्यक है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आधुनिकीकरण परिचय और उसके प्रयोग के

ज्ञान पर आधारित है। कई सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ आधुनिकीकरण को सम्भव बनाने के लिए आवश्यक मानी गई हैं। जैसे–(1) स्कूली शिक्षा के स्तर में बढ़ोत्तरी (2) संचार माध्यमों का विकास (3) संचार तथा यातायात की उपलब्धता (4) लोकतांत्रिक राजनीतिक संस्थाएँ (5) अधिक नगरीय तथा गतिशील जनसंख्या (6) संयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकी परिवार (7) जटिल श्रम विभाजन (8) धर्म का घटता प्रभाव (9) पदार्थों तथा सेवाओं के विनिमय के लिए पारम्परिक तरीकों के स्थान पर विकसित बाजार।

इस प्रकार आधुनिकीकरण सामाजिक व्यवस्था में उपरोक्त परिस्थितियों की उपस्थिति का परिणाम है। यह स्पष्ट शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में हुआ है। इसलिए आधुनिकीकरण के क्षेत्र तथा विस्तार के सम्बन्ध में हमें विभिन्न अवधारणाएँ देखने को मिलती हैं।

आधुनिकता के लक्षण
(Characteristics of Modernization)

आधुनिकता का सम्बन्ध काल परिवर्तन या युगान्तर से है। यूरोप में यह युगान्तर 16 वीं शताब्दी के आसपास प्रारम्भ हुआ। वहाँ का समाज परम्परागत था। सम्पूर्ण यूरोप में सामन्तवादी व्यवस्था थी। इस व्यवस्था का विरोध हुआ और औद्योगिक क्रान्ति हुई। इसके साथ ही विज्ञान में भी क्रान्ति आई। इन सबके परिणामस्वरूप यूरोप और अमेरिका में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। सामन्तवाद का स्थान पूँजीवाद ने ले लिया और राजाशाही के अन्त ने प्रजातन्त्र को विकसित किया। आज यूरोप और अमेरिका आधुनिकता की सीमा को पार करके उत्तर-आधुनिकता के द्वार पर खड़े हैं। ऐसा नही है कि यह आधुनिकता केवल यूरोप-अमेरिका तक ही सिमट गई हो। प्रजातांत्रिक व्यवस्था के प्रति विश्वास बढ़ा है। इस तरहं 17 वीं शताब्दी से विकासशील देशों में भी आधुनिकता का प्रवेश हो गया।

यहाँ हम आधुनिकता के कुछ सामान्य लक्षणों को संक्षेप में वर्णन करेंगे–

(1) **आधुनिकता की व्यापकता** (Wideness of Modernity)–आधुनिकता एक प्रक्रिया है और इसलिए इसमें गतिशीलता है। इसका अस्तित्व केवल समाजशास्त्र या राजनीतिशास्त्र में ही हो, ऐसा नहीं है। यह मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में देखने को मिलती है। वास्तव में, आधुनिकता का प्रभाव सबसे पहले साहित्य और कला में आया। इसी कारण इस प्रक्रिया को व्यापक कहा जाता है। यह व्यापकता इसका बहुत बड़ा लक्षण है।

(2) **आधुनिक समाज का उदय** (Emergence of Modern Society)– यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक समाज का उदय कब हुआ फिर भी लगभग सभी यह स्वीकार करते हैं कि इस समाज का प्रारम्भ 15वीं-16वीं शताब्दी से है। आज जिसे हम आधुनिक समाज कहते हैं, जिस अर्थ में इसे समझते हैं, वास्तव में इसका उदय **ज्ञानोदय** (Enlightement) से है। इसके बाद औद्योगिक क्रान्ति, फ्राँस, की राज्य क्रान्ति, आए। क्रान्ति के कतिपय लक्षण आधुनिक समाज में अन्तर्निहित हैं। आधुनिक समाज कई क्रान्तियों की उपज है।

(3) **आधुनिकता उद्‌विकास का परिणाम** (Modernity result of Evolution)– क्रान्तियों ने आधुनिकता को जन्म दिया और फिर आधुनिकता का उद्‌विकास प्रारम्भ हो गया। कुछ ऐसी ऐतिहासिक जटिल प्रक्रियाएँ आई जिन्होंने आधुनिकता के विकास को एक वैश्वीय स्वरूप प्रदान किया। **धर्मनिरेपक्ष राज्य** (Secular State), वैश्वीय पूँजीवादी **अर्थव्यवस्था, सामाजिक विरचन** (Social Formation) यथा वर्ग और विकसित श्रम-विभाजन ऐसी प्रक्रियाएँ रही हैं जिन्होंने आधुनिकता के उद्‌विकास को नई धार प्रदान की है।

(4) **राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रियाओं के कारण आधुनिकता का विकास** (Development of Modernity due to National and International processes)– पश्चिमी देशों तथा अमेरिका में आधुनिकता का विकास राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय अन्तःक्रियाओं के कारण हुआ है। इन देशों का दूसरे देशों के साथ आर्थिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध हुआ और इस तरह आधुनिक समाज की उपस्थिति सारी दुनिया में हो गई।

(5) **आधुनिकता की पहचान-पूँजीवाद, औद्योगीकरण और धर्मनिरपेक्षता** (Modernity is characterised by Capitalism, Industrialism and Secularism)– आधुनिकतावादी लेखक एक दूसरे से असहमति रखते हैं। कोई किसी एक तथ्य पर जोर देता है और दूसरा किसी और पर। उदाहरण के लिए **गिडिन्स** पूँजीवाद, उद्योग, प्रशासनिक शक्ति, सैनिक शक्ति आदि पर जोर तो देते हैं, पर वे यह बराबर कहते हैं कि आधुनिकता इन सब प्रक्रियाओं का गठबन्धन है। अपने आप में कोई भी एक प्रक्रिया अधूरी है। यह तो इन सब संस्थाओं का पारस्परिक आदान-प्रदान है जो आधुनिकता साकार करता है। आधुनिकतावादियों की इस पारस्परिक असहमति के होते हुए भी, निश्चित रूप से प्रजातांत्रिक व्यवस्था, पूँजीवाद, औद्योगीकरण और धर्म-निरपेक्षता आधुनिकता के वैश्वीय लक्षण हैं।

(6) **आधुनिकता-उपभोक्ता वस्तुओं की प्रचुरता और विभिन्न जीवन शैलियाँ** (Modernity-Prolification of Consumer Goods and a Variety of Life Styles)—आधुनिक समाज में वस्तुओं की कोई कमी नहीं है। सारी दुनिया ही बाजार है। देखते ही देखते एक भाग की वस्तुएँ दूसरे भाग में पहुँच जाती हैं। इन वस्तुओं में जहाँ समानता है, वहीं विभिन्नता भी। इस भाँति जीवनशैली भी व्यापक हो गई है। आदमी बराबर इस कोशिश में रहता है कि उसकी पहचान बनी रहे। अब व्यक्तिगत जीवन पर कम दबाब दिया जाने लगा है तथा निजी और सार्वजनिक जीवन में जो अन्तर रहता है, वह कमजोर हो गया है। एक तरफ तो आधुनिक समाज में सांस्कृतिक एकाधिकता है, व्यक्तिवाद है, और दूसरी तरफ शिक्षण संस्थाएँ तथा सार्वजनिक उपक्रम इस जीवन में समानता लाने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में, आधुनिक समाज अपनी संरचना में जटिल हो गया है।

(7) **शक्ति सभी सामाजिक सम्बन्धों और संघर्षों की संघटक** (Power Constitutive Dimension of all Social Relations and Struggles)—आधुनिक समाज में राज्य एक ऐसी शक्तिशाली संस्था है जो नागरिक के सम्पूर्ण जीवन पर अपना नियंत्रण रखती है। राज्य की नीतियाँ व्यापक हैं और इसका दखल समाज की गतिविधियों पर होता है। कहना चाहिए कि राज्य **शक्ति** (Power) का साक्षात स्वरूप है। सभी औद्योगिक समाजों यानी आधुनिक समाजों में प्रजातांत्रिक व्यवस्था एक व्यापक व्यवस्था है। इस व्यवस्था का एक विकल्प समाजवादी सरकार का था। लेकिन-सोवियत रूस के पतन के बाद यह विकल्प अभी खो गया है। यदि प्रजातांत्रिक और पूँजीवादी व्यवस्था में कोई संघर्ष है तो यह **सत्ता का संघर्ष** (Power Politics) है। यह सत्ता ही सामाजिक न्याय के नाम पर बाजार और सामाजिक संगठनों पर काबिज है।

(8) **वैश्वीकरण, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक पहलू आधुनिकता के आयाम** (Aspects of Modernity–Globalization, Economic, Political and Cultural)—आधुनिकता का सम्बन्ध वैश्वीकरण से है। देखा जाए तो प्रारम्भिक अवस्था में वैश्वीकरण ने ही आधुनिकता को पाला-पोसा था। आज वैश्वीकरण का फैलाव और इसका प्रसार बहुत अधिक हो गया है। अब कई नई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का आर्विभाव हुआ है जिसने सम्पूर्ण समाज को अपने आगोश में ले लिया है। अब इस नए संदर्भ में आधुनिकता बहु आयामी हो गई है। इसने कई तरह के अऐतिहासिक संघर्ष पैदा कर दिए हैं। सबसे बड़ा संघर्ष

तो परम्परा और आधुनिकता का है। आज दुनिया के सामने यक्ष प्रश्न है : बढ़ती हुई आधुनिकता के सामने क्या स्थानीय अर्थ-व्यवस्था और संस्कृति जीवित रह पाएगी? दूसरा प्रश्न है : क्या सम्पूर्ण संसार की आधुनिकता एक समान हो जाएगी? दुनिया के विभिन्न समाज क्या सजातीय (Homogeneous) हो जाएँगे? कुल मिलाकर हमें आधुनिकता को वैश्वीकरण की प्रक्रिया के साथ में देखना होगा। यह इसलिए कि आधुनिकता और वैश्वीकरण का चोली-दामन का साथ है। दूसरा, आधुनिकता का बहुत बड़ा लक्षण वैश्वीकरण भी है।

(9) **आधुनिकता या तकनीकी तंत्र** (Modernity or Technology)—कुछ समाजशास्त्री आधुनिक समाज को तकनीकी तंत्र का समाज कहते हैं। इनके अनुसार आधुनिकता का बहुत बड़ा लक्षण तकनीकी तंत्र (Technology) है। जेक्यूज़ ईल्लल ने कुछ समय पहिले अपनी पुस्तक 'दि टेक्नोलोजिकल सोसायटी' में तकनीकी तंत्र की व्याख्या की है। वे तो आधुनिक समाज और तकनीकी तंत्र समाज को पर्यायवाची मानते हैं वास्तव में तकनीकी तंत्र का समाजशास्त्र में बड़ा ढीला-ढाला प्रयोग करते हैं। सामान्यतया इसका मतलब यन्त्रीकरण (Mechanisation) और विशेष करके उत्पादन में काम में ली जाने वाली मशीनों से लिया जाता है। वैसे देखा जाए तो यह आधुनिक समाज वस्तुतः पूँजीपतियों और अभिजात वर्ग के हितों की सबसे पहले सुरक्षा करता है। इस तकनीकी तंत्र ने एक नए प्रकार के आन्दोलन को भी जन्म दिया है। जहाँ आधुनिक समाज है, वहीं औद्योगिक और तकनीकी-तंत्र समाज भी है। और वहीं ऐसे आन्दोलन भी है जो प्रदूषण और पर्यावरण अपकर्ष (Environmental Degradation) के आन्दोलन भी हैं।

(10) **नवीनतम आधुनिकता का नाम** (Modernity latest)—समाजशास्त्रियों का एक समूह आधुनिकता को काल या समय के साथ भी जोड़ता है। इसके अनुसार जिसके पास नवीनतम वस्तुएँ हैं, वह आधुनिक है। जिसके पास जितनी अधिक नवीनतम वस्तुएँ होती हैं, वह उतना ही अधिक नवीनतम होता है। मोटरकार तो कई परिवारों में होती है लेकिन जिसके पास नवीनतम मोटरकार होती है, वह उतना ही अधिक आधुनिक होता है। बिल्कुल आज तक की नवीनतम मोटरकार वाला व्यक्ति आधुनिक ही नहीं आधुनिकतम है। मतलब हुआ इस विचारधारा के अनुसार समय या काल ही आधुनिकता को मापने वाला फीसा या पट्टी है।

(11) **आधुनिकता एकाकीपन, प्रतियोगिता और उत्तेजित असन्तोष**

का पर्याय (Modernity is Lonliness, Competition and Secthing Dissatisfaction)—आधुनिकता एक विशेष प्रकार की जीवनशैली है। इसमें सम्पूर्ण समाज का चरित्र बौखलाया हुआ सा लगता है। हर आदमी दौड़ता दिखाई देता है। भीड़ में भी वह एकदम अकेला महसूस करता है। अकेलापन उसकी नियति हो जाती है। दूसरा, वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतियोगिता करता दिखाई देता है। रात और दिन भाग-दौड़ करते हुए भी कहीं उसे सन्तोष नहीं मिलता। उसका यह असन्तोष तो कभी-कभी उत्तेजित हो जाता है। **आधुनिकता के ये लक्षण—एकाकीपन, प्रतियोगिता और असन्तोष—मनुष्य की मनःस्थिति को दर्शाते हैं।**

(12) **आधुनिकता का वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण से सम्बन्ध** (Globalization, Liberalization and Privatization are Associates of Modernity)—कुछ समाजशास्त्रियों का विचार है कि आधुनिकता की व्यापकता उसमें निहित वैश्वीकरण, उदारीकरण, और निजीकरण में हैं। पहले आधुनिकता थी। इसमें औद्योगीकरण था। पर आज इसमें कई नए मूल्यों का समावेश हो गया है। वैश्वीकरण अपने आप में बहुत बड़ा मूल्य है। यह वैश्वीकरण ही उदारीकरण और निजीकरण को प्रोत्साहित करता है। इसीलिए इन सब मूल्यों को हम आधुनिकता के भाईबन्ध कहते हैं।

आधुनिकता अपने परिवेश में बहुत व्यापक है। कुछ तो विचार है कि संसार में कोई एक आधुनिकता हो, ऐसा नहीं है। यहाँ **बहु-आधुनिकता** (Multimodernities) है। कुछ और लोगों का कहना है कि आधुनिकता तो एक ही है, पर इसके पहलू अनेक हैं। यह विवादास्पद है। इसका हम अन्यत्र विवेचन करेंगे। यहाँ यही कहना चाहते हैं कि **आधुनिकता का कोई भी स्वरूप हम देखें, इसमें हमें पूँजीवाद, औद्योगीकरण, प्रजातंत्र और विवेक या बुद्धिसंगतता केन्द्रीय लक्षणों के रूप में दिखाई देते हैं।** डेहरनडोर्फ का तो यहाँ तक कहना है कि आधुनिकता के ढेरों लक्षणों के होते हुए भी विवेक इसका प्राणवायु है। इसके बिना आधुनिकता खाली-खाली है।

भारत में आधुनिकीकरण
(Modernization in India)

भारतीय समाजशास्त्रियों ने भारत में विकसित हुई आधुनिकता का विश्लेषण किया है। **एम. एन. श्रीनिवास** ने पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण की व्याख्या

सैद्धान्तिक स्तर पर की है। वे कहते हैं कि भारत में आधुनिकता की उपस्थिति ब्रिटिश काल से समझी जा सकती है। यह सही है कि अंग्रेज इस देश में व्यापारी की तरह आए, पर बाद में जब उन्होंने यहाँ की सत्ता को अपनाया तब उन्होंने यहाँ अपनी जड़ें मजबूत करने के लिए, प्रभावी प्रशासन चलाने के लिए, एक विशेष प्रकार की आधुनिकता को जन्म दिया। मुद्रण के लिए वे प्रिंटिंग प्रेस लाए, आवागमन के लिए रेलगाड़ियाँ चलाई, संचार साधन जुटाए और इस प्रकार ब्रिटेन की आधुनिकता को यहाँ आरोपित किया। **मेकाले** द्वारा प्रस्तावित अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया। अंग्रेजी शिक्षा ने उदार विचारधारा को इस देश में जन्म दिया। कुछ इसी तरह **श्रीनिवास** भारत में आधुनिकता के प्रवेश की व्याख्या करते हैं। उपनिवेशवादी शासन के होते हुए भी इस काल में हमारे यहाँ उदारवाद का जन्म हुआ। ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ 17 वीं तथा 18वीं शताब्दी की हैं। इसके बाद आधुनिकता की प्रक्रियाओं ने तीव्रता ग्रहण कर ली।

आधुनिकता की धार को प्रखर करने में आजादी की लड़ाई का योगदान बहुत बड़ा है। इस लड़ाई ने हमें समझ दी कि जाति व्यवस्था हमारे लिए घातक है। हमें इससे मुक्ति पानी होगी। इसी लड़ाई में हमें राष्ट्रीयता की चेतना दी, इसी लड़ाई ने विभिन्न **रियासतों** (States) में बँटे, विभिन्न धर्मों में बिखरे-लोगों को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। प्रजातंत्र और समानता के मूल्यों से लोग अवगत हुए। पहली बार स्वतंत्रता एक बहुत बड़े मूल्य की तरह हमारे सामने आई। ये सब लक्षण आधुनिकता के थे और इन्हें लाने में आजादी की लड़ाई द्वारा विरचित प्रक्रियाएँ बहुत ताकतवर थीं। ये प्रक्रियाएँ अऐतिहासिक भी थीं। इस देश में पहले कभी ऐसा हुआ नहीं था। यह पहली बार था कि आधुनिक शक्तियों ने परम्परागत शक्तियों को ललकारा था। पहली बार था कि संयुक्त परिवार चुनौतियों के रूबरू था। यह पहली बार ही था कि अस्पृश्यता को किसी ने चुनौती दी थी। उपनिवेशवादी ताकतों ने औद्योगीकरण और नगरीकरण को जन्म दिया, विकसित किया।

भारत के संविधान बनने के बाद हमने घोषित किया कि हम एक आधुनिक राष्ट्र बनेंगे। गून्नार मिरडल अपने 'एशियन ड्रामा' की जिल्दों में स्थापित किया कि एशिया के सभी राष्ट्र अपने आपको आधुनिक राष्ट्र बनाना चाहते हैं। इसका मतलब हुआ–ये राष्ट्र औद्योगिक, प्रजातान्त्रिक और पूँजीवादी राष्ट्र बनना अपना लक्ष्य समझते हैं।

श्रीनिवास की कृतियों में पाश्चात्यकरण एक प्रभावी प्रक्रिया रही है। इसके

द्वारा अंग्रेजों ने अपने लगभग डेढ़ सौ वर्षों के राज में विभिन्न स्तरों पर आधुनिकता लाने का प्रयास किया। यह आधुनिकता तकनीकी तंत्र, विचारधारा और मूल्यों के क्षेत्र में थी। **श्रीनिवास** इस तथ्य पर बहुत जोर देते हैं कि ब्रिटिश काल में हमारे देश में जो आधुनिकता आई उसमें विवेक यानी बुद्धिसंगतता तथा **मानवतावाद** (Humanitarianism) पर्याप्त मात्रा में थे। यह पाश्चात्यकरण के परिणामस्वरूप ही है कि यहाँ विज्ञान, तकनीकी तंत्र और शिक्षण संस्थाओं का उदय हुआ। बाद में चलकर **श्रीनिवास** ने सामाजिक प्रक्रिया का विश्लेषण आधुनिकीकरण के संदर्भ में किया।

बहुत थोड़े में भारत में आधुनिकीकरण के विकास का सिलसिला ब्रिटिश काल से प्रारम्भ होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस विकास ने नए आयाम पाए। भारतीय समाजशास्त्रियों ने हमारे यहाँ के राष्ट्रीय तथा स्थानीय संदर्भों में आधुनिकता के अर्थ को स्पष्ट किया है। उनके विचारों को हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

प्रो. योगेन्द्रसिंह की पुस्तक *'मोर्डनाइजेशन आफ इण्डियन ट्रेडिशन'* (1972) आधुनिकता के क्षेत्र में एक क्लासिकल ग्रन्थ हैं। इसमें उन्होंने आधुनिकता का भारतीय परम्पराओं पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका सैद्धान्तिक विश्लेषण किया है।वे यह मानकर चलते हैं कि आधुनिकीकरण एक **सार्वभौमिक सांस्कृतिक प्रघटना** (Universal Cultural Phenomena) है। यह प्रघटना केवल भारत की हो, ऐसा नहीं। आज की सम्पूर्ण दुनिया एक आधुनिक समाज है। आधुनिकता का यह प्रतिमान एक सम्पूर्ण संसार का आदर्श प्रतिमान है। जब इसके लक्षण दुनिया के विभिन्न भागों में फैलते हैं तब ये विभिन्न भाग अपने इतिहास और सामाजिक सन्दर्भ के आधार पर इसका प्रत्युत्तर देते हैं। और स्थानीय स्तर पर पहुँचकर यह आधुनिकता परम्पराओं के साथ घुल-मिल जाती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिकता का जो सार्वभौमिक आदर्श प्रारूप है, इसका राष्ट्रीय और स्थानीय उत्तर क्या है। **योगेन्द्र सिंह** का कहना है कि आधुनिकता के जो भी लक्षण हैं, वे बुनियादी रूप से **सार्वभौमिक** और **उद्‌विकासीय** हैं। इनकी प्रकृति सम्पूर्ण मानवता को अपने अन्दर समेट लेती है। अपने मूल में आधुनिकता कोई वैचारिकी नहीं है। इस दृष्टि से आधुनिकता एक सांस्कृतिक-सार्वभौमिकता (Cultural-Universal) है।

आधुनिकता की प्रक्रिया आज भारतीय ग्रामीण समुदायों में भी क्रियाशील है। गाँव का किसान आज आधुनिक ढंग से खेती करना सीख रहा है और इस काम में ट्रैक्टर तथा अन्य मशीनों का प्रयोग हो रहा है। सिंचाई के नवीन साधनों

का प्रयोग किया जाने लगा है, अच्छे बीजों की किस्मों को वैज्ञानिक ढंग से, वैज्ञानिक खाद आदि का उपयोग करके उत्पादन किया जा रहा है तथा किसानों को वर्ष में कई बार फसल पैदा करने के लिए प्रशिक्षित किया जा रहा है। भारतीय गाँवों में भी स्कूल आदि अधिक खोलकर शिक्षा का विस्तार किया जा रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में ही प्रौढ़ शिक्षा और स्त्री-शिक्षा पर विशेष बल दिया जा रहा है। पुरानी परम्पराओं व कुरीतियाँ त्यागने के लिए आवश्यक वातावरण को भी उत्पन्न करने का प्रयास किया जा रहा है।

ग्रामीण उद्योगों का भी मशीनीकरण हो रहा है। रेडियो, टी.वी. और वीडियो वैन के माध्यम से ग्रामवासियों को नवीन व आधुनिक तकनीकी तथा विचारों से परिचित कराया जा रहा है और आवागमन के साधनों को बढ़ाकर उन्हें अन्य लोगों के सम्पर्क में लाने व उससे लाभ उठाने के अवसर प्रदान किए जा रहे हैं। भारतीय गाँवों में सामाजिक गतिशीलता की गति भी अब पहले से बढ़ गई है। उनके रहन-सहन का स्तर पहले से ऊँचा उठा है और वे जाति-व्यवस्था व धर्म-सम्बन्धी अनेक अन्ध-विश्वासों के प्रति सचेत होते जा रहे हैं। केवल आधुनिक विचारों को ही नहीं अपितु आधुनिक व्यवहार प्रतिमानों, खाने-पीने के ढंग, फैशन आदि का भी विस्तार ग्रामीण समुदायों में हो रहा है। अतः स्पष्ट है कि आधुनिकता की प्रक्रिया केवल भारत के नगरीय समुदायों में ही नहीं, अपितु ग्रामीण समुदायों को भी अपनी लपेट में ले रही है। गाँवों में राजनीतिकरण की प्रक्रिया पंचायती राज की संस्थाओं से और भी गतिशील हो गई है।

विवाह और सम्पत्ति के हस्तान्तरण के मामलों में न्यायिक सुधार से परिवार का पारम्परिक ढाँचे का आधार प्रभावित हुआ है। उसने परिवार में समानता के सिद्धान्त को लागू किया है। जिससे महिलाओं की स्थिति सुधरी है। इसी प्रकार जातियों की भी परम्परात्मक-भूमिका में काफी बदलाव आया है। दलितों में नई चेतना जागी है। राजनीति में जातियों की बहती भागीदारी भारतीय समाज में बढ़ते आधुनिकीकरण का परिणाम है। आधुनिक समाज में सबको समानता का अधिकार प्राप्त है। साथ ही, भूमि-सुधारों के परिणामस्वरूप कृषि सम्बन्धी सामाजिक संरचना में भी संरचनात्मक सुधार हुआ है।

भारत में आधुनिकीकरण की दिशा दूसरे देशों की तुलना में भिन्न रही है। इस सन्दर्भ में दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों की चर्चा की जा सकती है। पहला, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में कई पारम्परिक संस्थाएँ और गतिविधियाँ फिर से शुरू हो गई हैं। उदाहरण के तौर पर, अब भारत में कई टी० वी० चैनलों में जैसे—आस्था,

संस्कार, साधना आदि पूरी तरह धार्मिक प्रचार के लिए समर्पित हैं। आधुनिकता की चकाचौंध में धर्म गुरुओं का अस्तित्व कायम ही नहीं, अपितु बढ़ रहा है। बापूजी आशाराम, सुधांशु जी महाराज, मोरारी बापू, रमेश ओझा, सुदर्शन जी महाराज, ब्यास जी महाराज आदि अपने धर्म प्रवचनों से अपने भक्तों को आध्यात्मिक ज्ञान बाँट रहे हैं। जातिगत संगठन अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए संचार के नए साधनों का प्रयोग कर रहे हैं। दूसरा, आधुनिकीकरण के ढाँचे में विसंगतियां भी दृष्टिगत हो रही हैं। जैसे–संयुक्त परिवारों का टूटना व वृद्धों के प्रति अनादर की भावना का बढ़ना– नैतिकता का पतन प्रायः देखने में आ रहा है। समाज में भौतिकवाद तथा विलासता बढ़ रही है। व्यक्तिवाद पनप रहा है। फास्टफूड, रेस्टोरेन्ट, क्रेडिट कार्ड, मोबाइल फोन, इन्टरनेट चैटिंग, टी. वी. चैनलों पर अश्लीलता परोसने जैसी नई संस्कृति विकसित हो रही हैं, जो हमारी विश्व प्रसिद्ध प्राचीन तथा आध्यात्मिक संस्कृति को विकृत कर रही है।

2

सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ
(Processes of Cultural Change)

अनेक समाजशास्त्रीय विचारकों ने सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन को एक ही माना है। परन्तु वास्तव में सांस्कृतिक परिवर्तन किसी भी देश या समाज की संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों को कहते हैं। संस्कृति सामाजिक गतिविधियों का नियमन करती है। सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक प्रक्रियाएं उन विभिन्न तरीकों को प्रदर्शित करती हैं जिनके द्वारा भारतीय संस्कृति भारत में प्रारम्भ हुए विविध परिवर्तनों को प्रभावित करती है। इन परिवर्तन के साधनों को हम दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—आन्तरिक तथा बाह्य। जहां परिवर्तन के आन्तरिक साधन समाज के अन्दर से उत्पन्न होते हैं, वहीं बाह्य साधन किसी समाज में बाहर से आते हैं। भारत की सांस्कृतिक संरचना में परिवर्तन आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के साधनों से उत्पन्न हुए हैं।

इस अध्याय में सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के महत्त्व की चर्चा चार अवधारणाओं—संस्कृतिकरण, इस्लामीकरण, पश्चिमीकरण तथा धर्मनिरपेक्षीकरण के माध्यम से की गई है।

संस्कृतिकरण (Sanskritization)

समाजशास्त्रीय साहित्य में 'संस्कृतिकरण' की अवधारणा (Concept) को लाने का श्रेय डॉ. एम. एन श्रीनिवास को है। संस्कृतिकरण भारत में सामाजिक

तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों की व्याख्या करने की सर्वाधिक प्रभावशाली अवधारणा के रूप में सामने आई है। श्रीनिवास ने सबसे पहले मैसूर की पूर्व रियासत में कूर्गों के अपने अध्ययन के दौरान इस शब्द का प्रयोग किया था। इस अवधारणा के द्वारा उन्होंने भारतीय जाति-प्रथा की संरचना व संस्तरण में होने वाले परिवर्तनों को समझाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि आधुनिक भारत में निम्न जाति के सदस्य प्रायः ऊंची जातियों के संस्कारों व जीवन के ढंग (way of life) का अनुकरण कर रहे हैं। साथ ही, जातीय संस्तरण (stratification) में उच्च स्थान या स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रयास में वे सफल भी हो रहे हैं।

संस्कृतिकरण का अर्थ
(Meaning of Sanskritization)

संस्कृतिकरण की व्याख्या करते हुए डॉ. **एम. एन. श्रीनिवास** ने अपनी पुस्तक '*Social Change in Modern India*' में लिखा है– *"संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन-पद्धति को बदलता है।"*

डॉ. **श्रीनिवास** ने यह भी लिखा है– *"संस्कृतिकरण का अर्थ केवल नवीन प्रथाओं व आदतों को ग्रहण करना ही नहीं, अपितु पवित्र एवं लौकिक जीवन से सम्बन्धित नए विचारों एवं मूल्यों को भी प्रकट करना है जिनका विवरण संस्कृति के विशाल साहित्य में बहुधा देखने को मिलता है जिनका विवरण संस्कृति के विशाल साहित्य में बहुधा देखने को मिलता है। कर्म, धर्म, पाप, माया, संसार, मोक्ष आदि संस्कृति के कुछ अत्यन्त लोकप्रिय आध्यात्मिक विचार हैं और जब लोगों का संस्कृतिकरण हो जाता है तब वे अपनी बातचीत में उन शब्दों का बहुधा प्रयोग करने लगते हैं।"*

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया
(Process of Sanskritization)

श्रीनिवास ने देखा कि निम्न जातियां, जाति अनुक्रम में अपनी स्थिति को ऊपर उठाने के लिए ब्राह्मणों के तौर-तरीकों को अपनाती हैं और अपवित्र समझे जाने वाले मांस-मदिरा के सेवन को त्याग देती हैं। इन सभी अनुकरणों के कारण

ये निम्न जातियां स्थानीय अनुक्रम में ऊंचे स्थान की अधिकारी हो गई हैं। इस प्रकार संस्कृतिकरण नवीन एवं अधिक उत्तम विचार, आदर्श, मूल्य, आदत तथा कर्मकाण्डों को अपना अपनी जीवन-स्थिति को अधिक उन्नत व परिमार्जित बनाने की प्रक्रिया है क्योंकि संस्कृतिकरण वास्तव में 'संस्कृत' या 'संस्कृति' शब्द से सम्बन्धित है।

संस्कृतिकरण किसी जाति की उच्च स्थिति के लिए एक आन्तरिक साधन है। इस प्रक्रिया से उत्पन्न गतिशीलता से व्यवस्था में केवल स्थिति का बदलाव होता है। इससे संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होता। जाति अनुक्रम के अन्दर ही बदलाव आता है, लेकिन जाति-व्यवस्था अपने आप में नहीं बदलती है। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया केवल जाति में ही नहीं अपितु जनजाति अथवा अन्य समूहों में भी पाई जाती है। इससे यह बात स्पष्ट है कि संस्कृतिकरण केवल जातीय संरचना व संस्तरण में ही नहीं अपितु सामाजिक संरचना व संस्तरण (Social structure and stratification) में भी उल्लेखनीय परिवर्तन ला सकता है। यह परिवर्तन जीवन का ढंग (way of life) से लेकर सामाजिक स्थिति तक हो सकता है।

भारतीय ग्रामीण समुदायों में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में प्रभु जाति की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। प्रभु जाति होने के लिए किसी भी जाति में तीन विशेषताएं आवश्यक हैं—(1) स्थानीय समुदाय में उपलब्ध कृषि योग्य भूमि में से एक बड़े भाग पर उस जाति का स्वामित्व हो, (2) उस जाति की सदस्य संख्या काफी हो, और (3) स्थानीय सोपान में उस जाति को उच्च स्थान प्राप्त हो। **डॉ. श्रीनिवास** ने स्वीकार किया है कि **ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र आदि भी संस्कृतिकरण के आदर्श हो सकते हैं।**

प्रभु जातियों का अस्तित्व स्थानीय होता है और वे संस्कृतिकरण करने वाली जातियों के लिए सन्दर्भ भूमिका का कार्य करती हैं। स्थानीय प्रभु जातियों के माध्यम से सांस्कृतिक फैलाव की प्रक्रिया विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूप धारण करती है। यदि क्षेत्र में प्रभु जाति ब्राह्मण है तो वह संस्कृतिकरण में ब्राह्मणवादी विशेषताओं को फैला देगा। यदि स्थानीय जाति जाट है तो वह जाटवादी विशेषताओं को प्रसारित करेगा। इस अर्थ में संस्कृतिकरण सांस्कृतिक परिवर्तन की समिति क्षेत्रीय प्रक्रिया है।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया हमेशा स्थिर और निर्बाध नहीं होती है। जब निचली जातियां प्रभु जातियों की जीवन शैली का अनुकरण करने लगती हैं तो प्रायः ऐसा नहीं होता कि उनका विरोध न हो। रीति-रिवाजों और वेश-भूषा जैसे

छोटे-छोटे बदलावों को तो अनदेखा कर दिया जाता है। लेकिन जब निचली जातियां ऊंची जातियों के विशिष्ट चरित्रों को अपनाने लगती हैं तो उनका कड़ा विरोध होता है और उन्हें इसके लिए प्रभु जाति द्वारा दण्ड भी दिया जाता है। देश के विभिन्न भागों में ऐसे कई विवादों और दण्ड देने के उदाहरण मिले हैं। जब पूर्वी उत्तर प्रदेश की नमक बनाने वाली नोनिया जाति ने सामूहिक रूप से जनेऊ धारण कर लिया तब ऊँची जाति के जमींदारों (प्रभुजाति) ने उन्हें शारीरिक दण्ड दिया और उनके जनेऊ तोड़ दिए गए इतना ही नहीं पूरी नोनिया जाति पर सामूहिक अर्थ दण्ड भी लगाया गया।

डॉ. श्रीनिवास ने लिखा है कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया भारतीय समाज में बहुत पहले से चली आ रही है। हां, इतना अवश्य है कि पहले जमाने में संस्कृतिकरण का ब्राह्मणों द्वारा वैधीकरण आवश्यक था। मध्ययुगीन भारत के अध्ययेता बर्टन स्टीन ने लिखा है कि दक्षिणी भारत में विजय नगर राज्य शक्तिशाली शासकों को भी ब्राह्मणों की वैधतादायी क्षमता और मानना और उसका मूल्य चुकाना पड़ता था। यदि किसी भी जाति का कोई व्यक्ति राजा बनने के बाद अपने को उच्च जाति का घोषित करना चाहता था तो वह तभी सम्भव होता था जबकि ब्राह्मण किसी संस्कार के द्वारा उसके दावे को स्वीकार करके वैधता प्रदान करे। भारतीय इतिहास में इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिलते हैं जबकि निम्न जाति के किसी व्यक्ति ने अपनी सैनिक शक्ति के आधार पर सत्ता की स्थापना की और ब्राह्मणों ने उसका राज्याभिषेक संस्कार करके उसे क्षत्रिय जाति का घोषित किया।

अधिकांशतः संस्कृतिकरण का प्रभाव स्थानीय होता है परन्तु वह भारत के विभिन्न भागों में भी देखा जा सकता है। इस अर्थ में यह भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक परिवर्तन की एक प्रमुख प्रक्रिया रही है। ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि विभिन्न आदिवासी समूहों को उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार जाति संस्तरण दिया गया। इन प्रक्रियाओं में नई जातियों व उपजातियों को भी जन्म दिया जो जाति व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक गतिशीलता को दर्शाता है। मध्यकाल का भक्ति आन्दोलन सम्पूर्ण भारत में फैला था जिसमें निचली जातियों और गरीबों ने सक्रिय रूप से भाग लिंया। सन्तों ने उपदेश दिया कि मनुष्य की प्रतिष्ठा उसके कार्यों पर निर्भर करती है न कि उसके जन्म पर। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप कई निम्न तथा अस्पृश्य जातियों के लोग धार्मिक नेता बन गए जैसे—दर्जी जाति का नामदेव, वैश्य जाति का तुकाराम, मोची जाति का रैदास और

जुलाहा जाति का कबीर। इन आन्दोलनों ने धार्मिक आडम्बरों और जातिगत अत्याचारों को विराम लगाया जिससे सामाजिक न्याय और समानता के मूल्यों का प्रचार प्रसार हुआ।

इस्लामीकरण
(Islamization)

हिन्दू संस्कृति विश्व की प्राचीनतम एवं प्रसिद्ध संस्कृतियों में से है। भारत में समय-समय पर आक्रमणकारियों के रूप में अनेक विदेशी आए। उनमें शक, हूण, मंगोल, पठान तथा अंग्रेज आदि प्रमुख थे। इन विदेशी समुदायों ने भारतीयों की भाषा, खान-पान, रीति-रिवाज, त्योहार, वेश-भूषा आदि को काफी सीमा तक अपनाया। कई विदेशी समूहों की संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति में इतनी घुल-मिल गई कि उनका सम्पूर्ण सात्मीकरण हो गया। दूसरी ओर शासक वर्ग की संस्कृतियों ने हिन्दू संस्कृति को भी प्रभावित और परिवर्तित किया।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि भारत में सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया दो तरह के संस्कृतिकरण द्वारा चली एक तो वह संस्कृतिकरण है जिसमें निम्न हिन्दू जाति या किसी आदिवासी या अन्य समूह द्वारा उच्च या द्विज जाति के रीति-रिवाजों, सिद्धांतों और उनकी जीवन-शैली को अपनाया गया तथा दूसरी तरह का सांस्कृतिकरण वह है जिसमें मुस्लिम शासकों और उनके मुसलमान अनुयायियों के रीति-रिवाज और उनकी जीवन-शैली को भारतीयों ने अपनाया। समाजशास्त्रियों ने दूसरी तरह के संस्कृतिकरण को **इस्लामीकरण** का नाम दिया है। भारत में इस्लाम का प्रारम्भ मुख्यतः तेरहवीं शताब्दी से माना जाता है, जब यहाँ पहला मुस्लिम राज्य स्थापित हुआ था। आक्रान्ता के रूप में भारत में प्रवेश पाने वाला यह पहला विदेशी धर्म था जिसने भारतीय समाज के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया। आज इस्लाम के अनुयायियों की संख्या हिन्दुओं के बाद सर्वाधिक है जो 2001 की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का लगभग 14 प्रतिशत है। अनुमान है कि सम्पूर्ण विश्व की जनसंख्या का लगभग सातवाँ भाग इस्लाम धर्म के अनुयायियों का है। भारत की धार्मिक परम्परा में इस्लाम का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भारतीय समाज पर इस्लाम का प्रभाव
(Impact of Islam on Indian Society)

हिन्दू संस्कृति का मुस्लिम संस्कृति से परिचय उस समय से है जब

भारतवासी अरबवासियों से व्यापार किया करते थे। इसके बाद तुर्कों, मुहम्मद गजनवी एवं मुहम्मद गोरी ने भारत पर समय-समय पर आक्रमण किए। गोरी ही भारत में मुस्लिम साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था। यहीं से भारतीय एवं मुस्लिम संस्कृति का सम्पर्क हुआ। यद्यपि दोनों संस्कृतियों में बहुत भिन्नता थी फिर भी इन दोनों संस्कृतियों का समन्वय हुआ। मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव क्षेत्र प्रमुखतः नगर ही रहे हैं। बाहर से आने वाले मुसलमानों की संख्या तो कम थी, किन्तु उन्होंने यहां कई हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। इसीलिए यहां के मुसलमानों में कई तत्त्व दोनों ही संस्कृतियों के साथ-साथ पाए जाते हैं। चूंकि मुसलमान शासक वर्ग के थे, अतः जनता ने दबाव एवं स्वेच्छा से मुस्लिम संस्कृति को अपनाया। दोनों के सम्पर्क से उर्दू भाषा का विकास हुआ जो हिन्दी व फारसी का मिश्रण है। मुस्लिम संस्कृति के भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर पड़ने वाले प्रभावों को हम विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं–

(1) **धर्म पर प्रभाव**–भारत में मुसलमानों के आगमन से पूर्व बहुदेववाद प्रचलित था। अद्वैतवाद या एकेश्वरवाद की धारणा मुस्लिम संस्कृति की ही देन है। हिन्दू मूर्ति-पूजक एवं सगुण ब्रह्म के उपासक थे, जबकि मुसलमान मूर्ति-पूजा के विरोधी। परिणामस्वरूप हिन्दुओं में भी निर्गुण ब्रह्म की उपासना प्रारम्भ हुई। मुसलमानों के प्रभाव से ही हिन्दुओं में अनेक नए धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ जिनमें कबीर पंथ, दादू पंथ, शंकराचार्य का अद्वैतवाद, गुरुनानक का सिख धर्म तथा रामानुज, वल्लभचार्य, चैतन्य एवं रैदास के धार्मिक सम्प्रदाय प्रमुख हैं। कबीर मुसलमानों के सूफीवाद से प्रभावित थे। वे छुआछूत, जाति-प्रथा तथा आडम्बर के विरोधी थे। दक्षिण भारत का लिंगायत सम्प्रदाय तो पूरी तरह मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित है। इस्लाम के प्रभाव के कारण ही हिन्दुओं में भक्ति आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। भक्ति आन्दोलन ने हिन्दू समाज में सुधारात्मक एवं रक्षात्मक दोनों प्रकार की भूमिका निभाई। मुस्लिम प्रभाव को रोकने के लिए हिन्दुओं ने कठोर धार्मिक नियम बनाए जिससे कि हिन्दू धर्म की रक्षा हो सके। साथ ही भक्ति आन्दोलन द्वारा हिन्दुओं की सामाजिक-धार्मिक बुराइयों को भी दूर करने के प्रयत्न किए गए। भारतीयों में सहिष्णुता एवं उदारवादी दृष्टिकोण पनपा और वे सभी धर्मों के महत्त्व को स्वीकार करने लगे। दैनिक जीवन में धार्मिक नियमों को महत्त्व दिया गया और कई टीकाकारों जैसे माधव, विश्वेश्वर, आदि ने टीकाएं लिख कर इस्लाम के समानता के सिद्धान्त को अपनाया। **इस प्रकार मुसलमानों के प्रभाव में हिन्दुओं में अद्वैतवाद, मूर्तिपूजा का विरोध, एकेश्वरवाद, छुआछूत,**

आडम्बर, जाति-प्रथा तथा ऊंच-नीच की धारणा में परिवर्तन हुआ और सुधारवादी व भक्ति आन्दोलन तथा समानतावादी आदर्शों का जन्म हुआ।

शिया और सुन्नी इन दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त इस्लाम में एक नये सम्प्रदाय 'सूफी मत' का भी उदय हुआ जो इस्लाम के सिद्धान्तों को भी स्वीकार करता है और साथ ही इसमें मानवतावाद और अहिंसा को भी सम्मिलित करता है। नवीं सदी में बगदाद सूफी मत का केन्द्र बन गया और वहां से धीरे-धीरे सारे इराक में फैल गया। 10वीं सदी में सूफी सन्त मन्सूर भारत में भी आए और उन पर अद्वैतवादियों का प्रभाव पड़ा जो बाद में सूफी मत का एक अंग बन गया।

(2) जाति-प्रथा पर प्रभाव—मुसलमानों के सम्पर्क के कारण जाति व्यवस्था में रूढ़िवादिता और संकीर्णता पनपी और जाति सम्बन्धी नियमों में कठोरता आई। हिन्दू सुधारकों ने जाति के विरुद्ध आवाज उठाई। इस्लाम भाई-चारे की भावना पर आधारित है तो जाति अप्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों पर। ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति को मुस्लिम काल में धक्का लगा, किन्तु कायस्थों एवं क्षत्रियों की स्थिति सुदृढ़ हुई एवं ऊंची उठी। दूसरी ओर लम्बे सम्पर्क के कारण मुसलमानों में भी जाति संस्तरण पनपा। कई हिन्दू लोग जब धर्म परिवर्तन कर मुसलमान बन गए तो धर्म परिवर्तन के बाद भी उन्होंने अपनी जातिगत विशेषताओं को बनाए रखा। मुस्लिम प्रभाव के कारण न केवल जातीय सोपान में वरन् जातिगत व्यवसायों में भी परिवर्तन हुआ और एक जाति के व्यक्ति अपने वंशानुगत व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय भी करने लगे। अकबर के समय में ऐसी शिक्षण संस्थाएं भी खोली गईं जिनमें हिन्दुओं व मुसलमानों दोनों को समान रूप से शिक्षा दी जाती थी, इससे जातीय कठोरता में कमी आई और सहिष्णुता पनपी। विभिन्न सन्तों द्वारा चलाए गए धार्मिक एवं सुधारवादी आन्दोलन के कारण भी जाति की बुराइयों पर कठोर प्रहार हुआ और अस्पृश्यता तथा ऊंच-नीच के भेदभाव समाप्त होने लगे। इस्लाम के प्रभाव के कारण ब्राह्मणों की तानाशाही पर रोक लगी और नामदेव, तुकाराम तथा अन्य शूद्र सन्तों के प्रयत्नों एवं प्रभाव के कारण शूद्रों की स्थिति में सुधार हुआ। ब्राह्मणों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए विवाह एवं जातीय नियमों को कठोर बनाया।

(3) परदा-प्रथा का प्रचलन—मुसलमानों में परदा-प्रथा का प्रचलन था जिसे हिन्दुओं ने भी अपनाया। इसके अतिरिक्त मुसलमानों द्वारा हिन्दू लड़कियों से विवाह करने पर रोक लगाने के लिए भी परदा-प्रथा का प्रचलन हुआ। आज परदा-प्रथा उच्च से लेकर निम्न जातियों में थोड़ी-बहुत मात्रा में सभी में पाई जाती है।

(4) **विवाह संस्था पर प्रभाव**—मुसलमानों ने यहां की हिन्दू लड़कियों से विवाह करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार के विवाहों को रोकने के लिए हिन्दुओं ने अल्पायु में ही विवाह प्रारम्भ कर दिए जिसके परिणामस्वरूप बाल-विवाह का प्रचलन हुआ। हिन्दू लड़कियों एवं स्त्रियों की गतिशीलता रोकने के लिए विधवा पुनर्विवाह पर भी कठोर नियन्त्रण लागू किए गए तथा सती-प्रथा को अधिक महत्त्व दिया गया। विधवा-पुनर्विवाह एवं सती-प्रथा को प्रभावी बनाने के लिए उनके पीछे कई धार्मिक एवं नैतिक विचारों का प्रतिपादन किया गया जिसके फलस्वरूप निम्न जातियों के अतिरिक्त सभी जातियों में और विशेष रूप से द्विज जातियों में विधवाओं के पुनर्विवाह तो समाप्त ही हो गए और सतीत्व के आदर्श को बढ़ावा मिला। मृत पति की चिता में बैठकर स्वयं को भस्म कर देना स्वर्ग प्राप्ति एवं पुण्य लाभ के लिए आवश्यक माना जाने लगा। कई बार तो विधवाओं को जबरन भी पति की चिता में धकेल कर सती होने के लिए मजबूर किया जाने लगा। **इस प्रकार बाल-विवाह का प्रचलन, विधवा-विवाह पर रोक तथा सती-प्रथा मुस्लिम प्रभाव की ही देन है।**

(5) **सामाजिक जीवन के विभिन्न भागों पर प्रभाव**—मुसलमानों के सम्पर्क के कारण हिन्दुओं के परिवार, वेश-भूषा, भोजन एवं शिक्षा आदि पर भी प्रभाव पड़ा। जैसे—

(i) **परिवार पर प्रभाव**—अधिकांशतः हिन्दुओं में संयुक्त परिवार प्रणाली पाई जाती है। मुसलमानों के समय में भी गांवों एवं शहरों में संयुक्त परिवार की प्रधानता बनी रही है किन्तु मुसलमानों का समानता का सिद्धान्त हिन्दुओं में भी प्रवेश कर गया। मुसलमानों ने कई हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। मुसलमान बनने पर भी हिन्दुओं ने अपनी परम्परात्मक संयुक्त परिवार प्रणाली का त्याग नहीं किया। इसके फलस्वरूप मुसलमानों में भी संयुक्त परिवार प्रणाली का प्रचलन हुआ। मुसलमानों के प्रभाव के कारण हिन्दू संयुक्त परिवार के मुखिया के शासन में कठोरता आई, वह अधिनायक बन बैठा तथा स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर तक सीमित हो गया।

(ii) **वेश-भूषा**—मुसलमानों के सम्पर्क के कारण हिन्दुओं ने भी उन्हीं की तरह चूड़ीदार पजामा, अचकन और शेरवानी पहनना शुरू कर दिया। प्रमुख रूप से कायस्थों एवं राजपूतों में इनका प्रचलन बढ़ा। मुसलमानों ने भी हिन्दुओं से पगड़ी बांधना सीखा।

(iii) **भोजन**—मुसलमानों के सम्पर्क के कारण हिन्दुओं में मांसाहारी प्रवृत्ति

बढ़ी और अण्डे, मांस, मछली का अधिक उपयोग होने लगा। मुसलमानों ने ही हिन्दुओं को अनेक प्रकार की मिठाइयों जैसे कलाकन्द, बर्फी, गुलाब जामुन, बालूशाही, हलुआ, इमरती एवं जलेबी, आदि से परिचित कराया।

(iv) शिक्षा—प्राचीन भारत में स्त्री व पुरुष दोनों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। मुसलमानों के सम्पर्क के कारण हिन्दुओं में परदा-प्रथा और बाल-विवाह का प्रचलन हुआ, इसके परिणामस्वरूप शिक्षा पर विपरीत प्रभाव पड़ा और स्त्री-शिक्षा तो लगभग समाप्त ही हो गई, किन्तु पुरुषों में शिक्षा का प्रसार हुआ और वे हिन्दी के अतिरिक्त, अरबी, उर्दू, फारसी, आदि की शिक्षा भी ग्रहण करने लगे।

(6) भाषा एवं साहित्य पर प्रभाव—मुसलमानों से पूर्व भारत में उर्दू, फारसी, अरबी आदि भाषाओं का प्रचलन नहीं था। मुस्लिम सम्पर्क के कारण ही संस्कृत एवं उर्दू से खड़ी बोली का प्रचलन हुआ। अमीर खुसरों ने खड़ी बोली में साहित्य का सृजन किया और कविताओं को जन्म दिया। हिन्दी भाषा भी समृद्ध हुई और उनमें उर्दू, फारसी व अरबी भाषा के कई शब्द अपना लिए गए। स्वयं उर्दू, भाषा भी संस्कृत, अरबी, फारसी एवं तुर्की भाषा के सम्मिलन से बनी है। मुसलमान शासकों ने उर्दू को राजकाज की भाषा घोषित किया जिसके परिणामस्वरूप उर्दू का प्रचलन बढ़ा। हिन्दी की कविता को उर्दू में गजल का रूप दिया गया। अनेक मुसलमान बादशाहों ने संस्कृत, मराठी और बंगाली भाषाओं को प्रोत्साहन दिया और उनके ग्रन्थों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद करवाया। हिन्दी में अलंकारों का प्रयोग भी मुस्लिम साहित्य का ही प्रभाव है। तुर्कों के समय में ही रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर टीकाएं लिखने का कार्य किया। **इस प्रकार मुस्लिम प्रभाव से हिन्दी भाषा एवं साहित्य में समृद्धि ही नहीं हुई वरन् साहित्य को कई नई विधाओं एवं परम्पराओं का भी जन्म हुआ।**

(7) स्थापत्य कला पर प्रभाव—तुर्क जब भारत में आए तो वे अपने साथ मध्य एशिया की स्थापत्य कला भी लाए। मुगल बादशाहों को स्थापत्य कला से बहुत प्रेम था। प्रारम्भ में मुसलमानों ने यहाँ के हिन्दू और जैन मन्दिरों को तोड़कर ही उनसे प्राप्त कलापूर्ण पत्थरों से अपने मकबरे, मस्जिदें, महल और कब्रें बनवाईं। इससे हिन्दू मुस्लिम स्थापत्य कला का समन्वय हुआ। कई मुस्लिम शासकों ने मन्दिरों को तोड़कर या उनमें कुछ हेरा-फेरी करके उन्हें मस्जिदों के रूप में बदल दिया। मुसलमानों से हिन्दुओं ने गुम्बद, ऊंची मीनारें, मेहराब तथा तहखाने बनाना

सीखा। अकबर एवं हुमायूं के मकबरे तथा शाहजहाँ द्वारा निर्मित आगरा का ताजमहल मुस्लिम काल की स्थापत्य कला के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। आगरा का ताजमहल तो वास्तुकला का विश्व का एक सर्वश्रेष्ठ नमूना है।

(8) **चित्रकला पर प्रभाव**—मुस्लिम काल में चित्र-कला में भी तुर्की, ईरानी और भारतीय शैलियों का समन्वय हुआ। मनुष्यों, पशुओं, लताओं, पुष्पों एवं पक्षियों के सजीव चित्र बनाना और उनमें सुनहरे, लाल, पीले, नीले, हरे एवं रुपहले रंग भरना हिन्दुओं को मुस्लिम संस्कृति की ही देन हैं। विभिन्न रंगों का मिश्रण एवं समन्वय भी हिन्दुओं ने मुसलमानों से ही सीखा। तुर्की और ईरान से आने वाली प्यूराइड चित्रकारी का हिन्दू चित्रकला पर गहरा प्रभाव पड़ा। प्यूराइड चित्रकारी के अनेक चित्र बाबर स्वयं अपने साथ भारत लाया था। बाबर स्वयं भी एक बहुत अच्छा चित्रकार था। राम एवं कृष्ण लीलाओं का चित्रमय प्रदर्शन अनेक स्थानों पर प्यूराइड चित्रकारी द्वारा ही किया गया है। मथुरा के द्वारकाधीश के मन्दिर में कृष्ण लीला का चित्रण इसी शैली में किया गया है। हुमायूं ने ईरान से मीर सैयद अली तबरिजी और ख्वाजा अब्दुस्समद शीराजी जैसे प्रसिद्ध चित्रकारों को भारत में बुलाया। अकबर को भी चित्रकारी का बहुत शौक था और उसने चित्रकारी के प्रशिक्षण के लिए कई संस्थाओं का संचालन किया। अकबर ने अपने दरबार में कई विदेशी प्रसिद्ध चित्रकारों को आमन्त्रित किया। कई देशी एवं विदेशी चित्रकारों के द्वारा अकबर ने 'चंगेजनामा', 'जफरनामा', 'रामायण', और महाभारत' जैसे ग्रन्थों के चित्र बनवाए। उसने कई बड़े-बड़े अमीरों के भी चित्र बनवाए। उसके समय में चीनी-ईरानी और भारतीय चित्रकला की विभिन्न शैलियों का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है।

(9) **संगीत पर प्रभाव**—इस्लाम में संगीत को बहुत अच्छा नहीं माना जाता था, किन्तु जब मुसलमान सूफियों के सम्पर्क में आए और भारत में हिन्दुओं के साथ रहने लगे तो उनके विचारों में भी परिवर्तन हुआ और वे भी संगीत को आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक मानने लगे। मुसलमानों के समय में भारतीय एवं ईरानी संगीत कला का समन्वय हुआ। मुस्लिम काल में ही भक्ति आन्दोलन प्रारम्भ हुए और ईश्वर भक्ति के लिए संगीत का प्रयोग किया जाने लगा। इसी समय भजन और कीर्तन का प्रभाव बढ़ा, विभिन्न प्रकार की राग रागिनियों, तालों एवं लयों का जन्म हुआ। कब्बाली, तराना व गजल कहना, सितार व तबला, आदि वाद्य-यन्त्रों सरपदा, जिल्फ खानगिरि, ठुमरी व लोचन कवि की 'राग-तरंगिनी', आदि रागों, सांझुमरा, आड़ा, चारताल, सूलकाफ,

आदि तालें, मुसलमानों की ही देन हैं। अकबर के शासनकाल में संगीत कला का बहुत विकास हुआ और भारतीय संगीत पर विदेशी प्रभाव पड़ा। अकबर के दरबार में कई संगीतज्ञों को संरक्षण प्राप्त था। अकबर के दरबारी तानसेन ने दरबारी कान्हड़ा, मियां-मल्हार, मियाँ की सारंग, आदि नए रागों को जन्म दिया। ध्रुपद शैली, विलम्बित ख्याल तथा द्रुतलय, आदि भी मुगल काल की ही देन है। इसी काल में हिन्दू और पारसी संगीत शैलियों का समन्वय हुआ। जिसके परिणामस्वरूप संगीत एवं गायन के क्षेत्र में अनेकानेक रीतियों का प्रादुर्भाव हुआ।

(10) **आर्थिक संस्थाओं पर प्रभाव**—मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत एक सम्पन्न एवं समृद्ध राष्ट्र था। यहाँ की उपजाऊ भूमि एवं धन-सम्पत्ति से आकर्षित होकर ही प्रारम्भ में मुसलमान लुटेरों के रूप में यहाँ आए। मोहम्मद गजनवी और गोरी ने लूटपाट के इरादे से ही अनेक आक्रमण किए। सोमनाथ के मन्दिर से अनेक बहुमूल्य हीरे-जवाहरात गजनवी द्वारा लूट लिए गए, किन्तु जब मुसलमानों का भारत में साम्राज्य स्थापित हुआ तो कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में भारत में कई परिवर्तन हुए। मुसलमानों के आगमन से पूर्व प्रत्येक गाँव एक पूर्ण स्वतन्त्र एवं गणतन्त्रात्मक इकाई था और प्रत्येक गाँव की अपनी भूमि होती थी। मुसलमानों के शासन काल में अस्थायी भूमि व्यवस्था पनपी। ग्राम पंचायतों का महत्त्व भी घटने लगा। मालगुजारी प्रथा का जन्म हुआ जिसके अन्तर्गत मुसलमान शासकों को भूमि का लगान वसूल करने का अधिकार दिया गया। इस व्यवस्था में ग्रामों का बहुत शोषण हुआ। मुसलमानों ने भारत में दास-प्रथा प्रारम्भ की जो वे अपने साथ अरब से लाए थे। उन्होंने बेगार लेना प्रारम्भ किया और अनेक भवनों, इमारतें व महलों का निर्माण बेगार के द्वारा किया गया, किन्तु मुसलमानों के सम्पर्क से भारतीय कुटीर व्यवसाय को पुनर्जीवन मिला तथा सूती और ऊनी वस्त्रों के निर्माण, रंगाई, छपाई, कागज, बर्तन एवं दस्तकारी उद्योगों के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई। धातु, शक्कर, ईंट, पच्चीकारी और कलई करने, आदि व्यवसायों का भी मुसलमानों के समय में विकास हुआ। कई मुस्लिम प्रशासकों के तो स्वयं के उद्योग-धन्धे थे जिनमें कई कारीगर काम करते थे। मुस्लिम शासकों के संरक्षण में देशी एवं विदेशी व्यापार को संरक्षण प्राप्त होने के कारण उनका विकास हुआ और कई बादशाह तो स्वयं भी विदेशी व्यापार करते थे। खेती से पैदा होने वाली वस्तुएँ, सूती व रेशमी वस्त्र, अफीम, नील तथा जस्ता आदि विदेशों को भेजा जाता था और उनके बदले घोड़े, खच्चर और शाही परिवार के लोगों के लिए विलासिता की वस्तुओं का आयात किया जाता था।

मुस्लिम काल में भारत का अरब राष्ट्रों से ही नहीं वरन् यूरोपीय देशों से भी व्यापारिक सम्पर्क बढ़ा।

हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्पर्क के कारण हिन्दू समाज एवं संस्कृति में अनेक परिवर्तन हुए। मुसलमानों ने हिन्दुओं के खान-पान, वस्त्र शैली, परिवार, जाति, शिक्षा, धर्म, भाषा, साहित्य, स्थापत्य कला, चित्रकला, संगीत तथा राजनीतिक व आर्थिक जीवन को प्रभावित किया। इस सम्पर्क के कारण दोनों में सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण केवल हिन्दू समाज व संस्कृति पर ही मुललमानों का प्रभाव नहीं पड़ा वरन् मुस्लिम समाज एवं संस्कृत में भी हिन्दुओं के प्रभाव से अनेक परिवर्तन हुए। हिन्दुओं के सम्पर्क के कारण मुसलमानों की बर्बरता व क्रूरता कम हुई, उनमें भक्ति, श्रद्धा, सहृदयता व दयालुता की मनोवृत्ति पैदा हुई। उनमें भी फकीरों, पीरों एवं मकबरों की पूजा होने लगी जबकि वे मूर्ति पूजक नहीं थे। हिन्दुओं के अन्धविश्वास, नजर लग जाना, उतारा और निसार के रूप में मुसलमानों ने भी ग्रहण किए, वे भी 'मानताओं' और 'मिन्नतों' में विश्वास करने लगे। मुसलमानों ने भी हिन्दुओं के खान-पान, पहनावा, दैनिक स्नान, हिन्दुओं के उत्सव तथा जाति प्रथा के कुछ तत्त्वों को ग्रहण किया। आज मुसलमानों में भी हिन्दुओं की तरह अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। स्पष्ट है कि पर-संस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया के कारण हिन्दू व मुस्लिम दोनों ही संस्कृतियों में बहुत आदान-प्रदान हुआ और एक नवीन संस्कृति 'हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति' का जन्म हुआ जिसमें दोनों का ही समन्वय पाया जाता है।

इस संदर्भ में इस्लामीकरण का अर्थ धर्मांतरित मुसलमानों में उच्च सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति प्राप्त करने की गतिशीलता थी। सामाजिक प्रतिष्ठा, शक्ति और लाभ में वृद्धि की प्रवृत्ति ने निम्न जातियों को इस्लाम की ओर प्रेरित किया। हालाँकि, धर्मांतरण द्वारा इस्लामीकरण की प्रवृत्ति हमेशा लाभदायक नहीं रही। हाँ, इससे लोगों को मनोवैज्ञानिक रूप से संतोष अवश्य पहुँचा था। फिर भी बड़े पैमाने पर धर्मांतरण से प्राप्त उच्च सामाजिक स्थिति को हिन्दुओं या मुसलमानों ने खुली स्वीकृति कभी प्रदान नहीं की। इस अर्थ में, इस्लामीकरण एक सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में संस्कृतिकरण से मेल खाता है।

पश्चिमीकरण
(Westernization)

आधुनिक भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन लाने में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत में पश्चिमी मूल्यों व मान्यताओं

का प्रसार अंग्रेजों के शासन काल में तीव्र गति से हुआ। अंग्रेजों ने अपने लम्बे शासन काल में भारतीय समाज का घनिष्ठ परिचय पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति से तो कराया ही, साथ ही यहाँ की शासन व्यवस्था को भी अपने ढंग से व्यवस्थित किया और इस प्रकार अनेकों परिवर्तन स्वतः उत्पन्न होते चले गए। आज भारतीय समाज का जो स्वरूप सामने आ रहा है, उसमें काफी सीमा तक पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का योगदान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृतिकरण के साथ ही पश्चिमीकरण सांस्कृतिक परिवर्तन की दूसरी बड़ी प्रक्रिया है। डॉ. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की तरह, पश्चिमीकरण की अवधारणा को भारतीय समाज में लोकप्रिय बनाया है। उन्होंने अपनी पुस्तक '*Social Change in Modern India*' में पश्चिमीकरण की व्याख्या की है–

"पश्चिमीकरण शब्द अंग्रेजों के शासन काल के 150 वर्षों से अधिक के परिणामस्वरूप भारतीय समाज व संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों को व्यक्त करता है और इस शब्द में प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, विचारधारा, मूल्यों आदि के विभिन्न स्तरों में घटित होने वाले परिवर्तनों का समावेश रहता है।' (इस प्रकार पश्चिमीकरण का तात्पर्य देश में उस भौतिक सामाजिक जीवन का विकास होना है जिसके अंकुर पश्चिमी धरती में प्रस्फुटित हुए और जो पश्चिमी व यूरोपीय शक्तियों के विस्तार के साथ-साथ विश्व के विभिन्न कोनों में अविराम गति से बढ़ता गया।)

प्रो. श्रीनिवास के अनुसार एक पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्क से एक गैर-पश्चिमी देश में जो परिवर्तन उत्पन्न होते हैं, उनके लिए एक लोकप्रिय शब्द 'आधुनिकीकरण' (Modernization) है। इस प्रकार पश्चिमीकरण को दूसरे शब्दों में आधुनिकीकरण भी कहा जा सकता है, लेकिन अनेक समानताएँ होते हुए भी पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण दो अलग-अलग प्रक्रियाएं हैं। डेनियल लर्नर के विचार से पश्चिमीकरण अनिवार्य तौर पर आधुनिकीकरण नहीं होता। इन दोनों में अनेक भेद हैं। **प्रथम भेद** यह है कि पश्चिमीकरण के लिए पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति से सम्पर्क आवश्यक है जबकि आधुनिकीकरण बिना पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के सम्भव है। उदाहरणार्थ, जापान में बिना पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित हुए, आधुनिकीकरण हुआ है। **द्वितीय भेद** यह है कि पश्चिमीकरण एक तटस्थ प्रक्रिया है, इसमें किसी संस्कृति के अच्छे या बुरे होने का आभास नहीं होता जबकि आधुनिकीकरण को सामान्य तौर पर अच्छा भी माना जाता है। वास्तव में यन्त्रीकरण, विशाल उद्योगों की स्थापना, प्रौद्योगिकीय तथा प्राविधिक विकास, ज्ञान-विज्ञान का प्रसार, आर्थिक प्रगति, विवेकशीलता,

उदारता, विविधता, स्वतन्त्रता, धर्मनिरपेक्षता आदि आधुनिकीकरण के प्रमुख लक्षण हैं।

भारत में पश्चिमीकरण के प्रभाव
(Impact of Westernization)

पश्चिमीकरण का हिन्दू या भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव को निम्नलिखित आधार पर समझाया जा सकता है—

(1) जाति प्रथा पर प्रभाव Impact on Caste System)—भारत में पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार बहुत कुछ औद्योगीकरण और नगरीकरण के विकास से सम्बन्धित रहा है। अंग्रेजों के आने से भारत में विभिन्न उद्योग धन्धों की स्थापना हुई और परिणामस्वरूप सभी जातियों के लोग मिलों व कारखानों में काम करने लगे। इन काम करने वाले लोगों के स्वार्थ व समस्याएँ भी एक जैसे हो गए। साथ-साथ काम करने से आपसी बातचीत व मेल-मुलाकात भी आवश्यक हो गया। ऐसी स्थिति में जाति-प्रथा में पाया जाने वाला ऊँच-नीच का भेदभाव समाप्त होने लगा। औद्योगीकरण के कारण हजारों व लाखों की संख्या में लोग काम के लिए नगरों में आकर बसने लगे। नगरों की इस भीड़-भाड़ में दूर-दूर स्थानों से आए हुए लोगों में जात-पात का विचार निर्बल होने लगा। इसके अतिरिक्त नगरों में देहातों जैसी जातीय पंचायतों का नियन्त्रण भी न रहा। इस प्रकार नगरीकरण (urbanization) ने भारतीय जाति-प्रथा पर सीधा प्रहार किया।

अंग्रेजी शासन काल में आवागमन या यातायात के साधनों के विकसित हो जाने के कारण भी जातीय बन्धन पर्याप्त ढीले होने लगे क्योंकि विभिन्न जातियों के लोग रेल, बस, मोटर आदि में साथ-साथ यात्रा करने लगे। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से जाति-प्रथा में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। अंग्रेजी शिक्षा ने एक ओर तो जातिगत रूढ़ियों के प्रति उदासीनता की भावना उत्पन्न की और दूसरी ओर विदेशों या बड़े नगरों में शिक्षा ग्रहण करने वाले भारतीयों को जातीय प्रतिबन्धों से काफी सीमा तक मुक्त कर दिया। विदेश जाने वाले लोग तो बहुधा पूरे साहब बनकर लौटते थे। इस बदलती हुई परिस्थिति में पढ़े-लिखे लोग अन्तर्जातीय विवाह करने लगे। वस्तुतः अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव जातीय प्रथा पर पर्याप्त व्यापक रहा और इसी के कारण जाति से रूढ़िग्रस्त जनता ने नए युग में पदार्पण किया। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से सभी जातियों का रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज आदि एक जैसे हो गए। ऐसी स्थिति में जाति के स्थान पर वर्ग का भेद पनपने लगा।

(2) **अस्पृश्यता पर प्रभाव** (Impact on Untouchability)—पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने जाति-प्रथा को निर्बल बनाकर अस्पृश्यता के विचार को भी दूर करने में अत्यधिक सहायता की। औद्योगीकरण, नगरीकरण, आवागमन के साधनों आदि के कारण भी अस्पृश्यता के विचार को दूर करने में मदद मिली क्योंकि विभिन्न दफ्तरों, कारखानों, आदि में लोग साथ-साथ काम करने लगे, उठने-बैठने लगे और मेल-मुलाकात करने लगे। यह सब परिस्थिति जाति-प्रथा के तो प्रतिकूल थी ही, लेकिन इस परिस्थिति ने अस्पृश्यता के विचार को भी धीरे-धीरे कमजोर करना शुरू कर दिया। इतना ही नहीं, पाश्चात्य संस्कृति व शिक्षा से प्रभावित लोगों में नई सामाजिक व राजनैतिक चेतना का विकास हुआ। वास्तव में यह कहना उपयुक्त ही है कि पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति ने भारतीय समाज से अस्पृश्यता जैसी अन्यायपूर्ण समस्या को मिटाने में काफी योगदान दिया है।

(3) **महिलाओं की स्थिति पर प्रभाव** (Impact on the status of Women)—भारतीय महिलाओं ने पाश्चात्य विचारों के प्रकाश में अपनी स्थिति का मूल्यांकन करने का अवसर प्राप्त किया। पश्चिमी प्रभाव के सम्पर्क में उन्होंने यह अनुभव किया कि वे पुरुषों से किसी भांति भी कम नहीं हैं। इसलिए भारतीय महिलाओं ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकारों व समानता की माँग की। महिलाओं की उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अनेक बाधाएँ थीं लेकिन पाश्चात्य संस्कृति द्वारा निर्मित नवीन परिस्थितियों ने बाधाओं को काफी सीमा तक दूर कर दिया। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करने वाली युवतियों ने अपने को पाश्चात्य नारी की तुलना में अत्यधिक शोचनीय स्थिति में पाया। शिक्षित महिलाओं का हृदय तिलमिला उठा और वे प्रगति के लिए आगे बढ़ीं। भारतीय महिलाओं ने जनमत प्राप्त करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय आन्दोलन में पुरुषों के साथ-साथ भाग लिया। इस प्रकार नवीन सांस्कृतिक सम्पर्क नें भारतीय नारी में नवीन चेतना को विकसित किया।

इस सांस्कृतिक सम्पर्क की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही आज भारतीय महिला की स्थिति पहले से कहीं अच्छी है। वह ऊँची से ऊँची शिक्षा पाने की अधिकारी है, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वह पुरुष के समान बे-रोकटोक काम करती है। वह विधानसभा व संसद की सदस्या भी है, राज्यों व केन्द्रीय मन्त्रीमण्डलों में उसे स्थान प्राप्त है। कई भारतीय युवतियों, जैसे–सुष्मिता सेन, ऐश्वर्य राय, लारा दत्ता, प्रियंका चोपड़ा आदि को विश्व सुन्दरी होने का खिताब हासिल हैं। डॉक्टर, अभिनेत्री, अध्यापिका, वकील वे पहले भी थीं, अब वे मॉडल, पुलिस अधिकारी,

फौजी, विमान चालक व उद्योगपति भी हैं। सम्पत्ति व उत्तराधिकार आदि के मामले में भी उसे पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हो गए हैं। भारतीय महिला की स्थिति पर पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ा है और इस व्यापक प्रभाव के संदर्भ में उसकी स्थिति पहले से कहीं बेहतर हो गई है। इस दृष्टि से पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय महिला को उसकी स्थिति संभालने के लिए बहुत कुछ दिया है।

(4) विवाह की संस्था पर प्रभाव (Impact on the Institution of Marriage)—पाश्चात्य संस्कृति ने हिन्दुओं की विवाह संस्था को अत्यधिक प्रभावित किया है। विवाह के आधार, पद्धति आदि सभी में परिवर्तन आ गया है। आज विवाह का आधार धर्म न होकर प्रेम और दाम्पत्य प्रीति हो गया है और यह दो हिन्दू परिवारों का पवित्र बन्धन या सम्बन्ध न होकर दो व्यक्तियों का जीवन संघ बन गया है। अब लड़का विवाह में ऐसी जीवनसंगिनी चाहता है जो सोसाइटी में उठ बैठ सके, क्लब व पार्टी अटेण्ड कर सके और उसके विचारों को समझ सके। लड़की भी एक साथी, प्रेमी, मित्र आदि के रूप में पति चाहती है। विवाह की पद्धति में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। विवाह के समय धार्मिक कृत्यों पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना कि मण्डप की साज-सज्जा और फोटोग्राफी पर। यद्यपि विवाह आज भी धार्मिक संस्कार है लेकिन अब इसका संस्कारित रूप निर्बल होता जा रहा है और लोगों में सिविल मैरिज के प्रति रुचि बढ़ती जा रही है।

विवाह के लिए जीवन साथी के चुनाव का उत्तरदायित्व माता-पिता का न होकर युवक-युवतियों का हो गया है। शिक्षित लोगों में विवाह बन्धन के लिए लड़के और लड़की की स्वीकृति को आवश्यक समझा जा रहा है क्योंकि सारे जीवन की सुख, सफलता आदि इसी पर निर्भर है। ग्रामीण समाज में अभी इस दिशा में अधिक परिवर्तन नहीं हो पाया है। महिलाओं में शिक्षा प्रसार के कारण बाल विवाहों का बहिष्कार किया जा रहा है और ऊँची आयु में विवाह किए जा रहे हैं। अब विवाह एक धार्मिक बन्धन नहीं रह गया है वरन् वह एक समझौता हो गया जिसको विशेष परिस्थितियों में तोड़ा जा सकता है। विवाह के क्षेत्र में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के रूप में प्रेम विवाह को प्रोत्साहन मिल रहा है, परिणामस्वरूप अन्तर्जातीय विवाह के प्रति व्यक्तियों की रुचि बढ़ती जा रही है।

(5) परिवार पर प्रभाव (Impact on Family)—पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति ने हिन्दुओं के परम्परागत संयुक्त परिवार को अत्यधिक प्रभावित किया

है। विचारकों का कथन है कि भारत में संयुक्त परिवार के विघटन में पाश्चात्य व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का बहुत बड़ा हाथ है। युवक-युवतियों ने पश्चिम के एकाकी परिवार (Nuclear family) के आदर्श को अपनाना शुरू कर दिया क्योंकि नवीन परिस्थितियों में संयुक्त परिवार के परम्परागत आदर्शों का टिका रहना सम्भव न हो सका। पढ़े-लिखे लोग संयुक्त परिवार के लिए अपने को बलिदान करने की बात को मूर्खता समझने लगे क्योंकि संयुक्त परिवार में पति-पत्नी को स्वतन्त्रतापूर्वक बातचीत करने, उठने-बैठने, मिलने-जुलने आदि की छूट नहीं रहती। इन सब मनोवैज्ञानिक कारणों के अतिरिक्त औद्योगीकरण, नगरीकरण, आवागमन के विकसित साधनों आदि ने भी संयुक्त परिवार को विघटित करने में सक्रिय योग दिया है।

पश्चिम के प्रभाव से केवल परम्परागत संयुक्त परिवार का विघटन ही नहीं हो रहा है वरन् परिवार का आकार भी छोटा होता जा रहा है। विवाह के आधार में परिवर्तन आ जाने के कारण, पढ़ी-लिखी महिलाएँ अधिक सन्तान को झंझट समझने लगी हैं। परिणामस्वरूप गर्भ निरोधक औषधियों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इतना ही नहीं, व्यक्तिवादी और स्वतन्त्रता की भावना विकसित होने के कारण विवाह विच्छेद अब इतना कठिन नहीं रह गया। परिणाम-स्वरूप परिवार के विघटन के साथ पारिवारिक स्थायित्व में भी कमी आती जा रही है।

(6) रीति-रिवाजों पर प्रभाव (Impact on Customs)—भारत के सामाजिक रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा आदि भी पश्चिम के प्रभाव से मुक्त नहीं रहे हैं। रहन-सहन में पश्चिम का प्रभाव स्पष्ट तौर पर दिखाई देता है। युवकों का फैशन करना एक सामान्य बात हो गई है। महिलाओं में ऊँची एड़ी के सैण्डिल, जीन्स तथा स्कर्ट आदि पोशाकों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है और प्रसाधन व शृंगार की सामग्रियों जैसे लिपिस्टिक, पाउडर, क्रीम आदि का प्रयोग भी काफी बढ़ता जा रहा है। शिक्षित लोग मकान की बनावट व सजावट में, रहन-सहन में, उत्सवों में एवं अन्य बातों में पश्चिमी मान्यताओं का अनुकरण करते दिखाई देते हैं। केबल टी.वी., टी.वी. सीरियल, इन्टरनेट चेटिंग, मोबाइल फोन, क्रेडिट कार्ड, फॉस्ट फूड आदि उपभोग की वस्तुएँ आम जनता तक पहुँच गई हैं।

पश्चिमीकरण में राजनीतिक विचारों तथा सोच को भी प्रभावित किया। राष्ट्रीयता और लोकतंत्र का उदय पश्चिम में दो महान विचारों के रूप में हुआ। भारत में ये विचार पश्चिमीकरण के माध्यम से ही आए। राष्ट्रीय चेतना राष्ट्र की

नीव रखती है। भारत में राष्ट्रीय चेतना 19वीं शताब्दी में उत्तरार्ध में आई। परम्परागत भारतीय समाज में सुधार लाने की भावना का उदय हुआ। राजा राममोहन राय ने सन् 1928 में बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना की और सन् 1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गुजरात में आर्य समाज की स्थापना की। इनका उद्‌देश्य हिन्दू समाज में सुधार करना था। राष्ट्रीयता लोकतंत्रीय राज्य व्यवस्था एवं धर्मनिरपेक्षता के आदर्श भारत में विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में आए हैं। इन व्यवस्थाओं ने भारत में सांस्कृतिक आधुनिकता की आधारशिला रखी। इस प्रकार भारतीय समाज पर पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति अर्थात् पश्चिमीकरण का प्रभाव व्यापक रूप में हुआ।

धर्मनिरपेक्षीकरण
(Secularization)

आज व्यक्ति के व्यवहार में तार्किकता का तत्त्व स्पष्ट नजर आता है। फलस्वरूप उसके जीवन में निरन्तर धार्मिकता का ह्रास होता जा रहा है। व्यक्तिगत व्यवहारों व कार्यों में तार्किकता का समावेश या धार्मिकता का ह्रास ही लौकिकीकरण या धर्मनिरपेक्षीकरण है। औद्योगीकरण, उन्नत संचार साधन, नगरों का विकास, व्यक्तिवादिता, पाश्चात्य संस्कृति, सामाजिक गतिशीलता, दो विश्वयुद्ध, सुधार आन्दोलनों आदि अनेक कारकों ने भारतीय जन-जीवन में लौकिकता या धर्मनिरपेक्षकता की प्रक्रिया को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया है। इस प्रकार जब धर्मनिरपेक्षीकरण विकसित होता है तब प्राकृतिक और सामाजिक जीवन को समझने के नजरिये के रूप में धर्म का स्थान विज्ञान ले लेता है। इस सम्बन्ध में और अधिक जानने के लिए धर्मनिरपेक्षीकरण के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है।

धर्मनिरपेक्षीकरण का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Secularization)

धर्मनिरपेक्षीकरण को उस सामाजिक विचार या प्रवृत्ति के रूप में समझा जा सकता है। जिसके अन्तर्गत धार्मिक, प्रधानता या परम्परागत व्यवहारों में धीरे-धीरे तार्किकता व व्यवहारिकता लाने का प्रयास किया जाता है।

डॉ. एम. एन. श्रीनिवास ने धर्मनिरपेक्षीकरण की इस प्रक्रिया को लौकिकीकरण या निरपेक्षीकरण की संज्ञा दी है। आपके शब्दों में *"लौकिकीकरण*

शब्द का यह अर्थ है कि जो कुछ पहले धार्मिक माना जाता था, वह अब वैसा नहीं माना जा रहा है। इसका तात्पर्य विभेदीकरण की एक प्रक्रिया से भी है जो कि समाज के विभिन्न पहलुओं–आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी और नैतिक–के एक-दूसरे से अधिक से अधिक पृथक होने में दृष्टिगोचर होती हैं।''

भारतीय समाज के सन्दर्भ में या लौकिकता की सरकारी या संवैधानिक व्याख्या धर्मनिरपेक्षता है अर्थात् संवैधानिक तौर पर सब धर्म बराबर दर्जे के हैं और इसीलिए सरकार किसी भी धर्म के प्रति पक्षपात की नीति को न तो स्वयं अपनाएगी और न ही किसी व्यक्ति, संस्था या समुदाय को अपनाने देगी। यह विचार गांधी जी के भी थे। उनके अनुसार 'सेक्यूलर' (Secular) का अर्थ धर्महीनता नहीं बल्कि 'सर्वधर्म-समभाव' है। वे चाहते थे कि स्वतन्त्र भारत में प्रत्येक नागरिक अपना धर्म पहचाने और दूसरे धर्मों के प्रति सद्भाव और आदर रखे। उनकी यह पक्की धारणा थी कि इस प्रकार के 'सर्वधर्म-समभाव' के द्वारा ही भारत की एकता मजबूत हो सकती है।

इस अध्याय में हम धर्मनिरपेक्षीकरण या लौकिकीकरण की एक राजनैतिक अवधारणा के रूप में नहीं अपितु सामाजिक अवधारणा के रूप में विवेचना करेंगे। लोकपरकता पनपने के साथ-साथ धार्मिक तथा परम्परागत व्यवहारों में जब तार्किकता व व्यावहारिकता पनपती जाती है तो उनका स्वाभाविक परिणाम एक यह भी होता है कि जन-व्यवहार से धार्मिक कट्टरपन व संकीर्णता दूर होती जाती है और दूसरे धर्म के प्रति सहनशीलता व उदारता की भावना पनपने लगती है। परन्तु यह लौकिकीकरण धर्मनिरपेक्षीकरण का केवल एक परिणाम है। हम अन्य परिणामों की भी विवेचना इस अध्याय में करेंगे। पर उससे पूर्व समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से लौकिकीकरण के प्रमुख तत्त्वों की विवेचना आवश्यक है।

धर्मनिरपेक्षीकरण के आवश्यक तत्त्व
(Essential Elements of Secularization)

(1) धार्मिक संकीर्णता का ह्रास (Decline of religious narrowmindedness)—धर्मनिरपेक्षीकरण या लौकिकीकरण का एक प्रमुख तत्त्व या लक्षण यह है कि इसकी वृद्धि के साथ-साथ धार्मिक कट्टरपन व संकीर्णता का ह्रास होता है। लौकिकता वास्तव में धर्महीनता नहीं है, यह तो तार्किक व व्यवहारिक स्तर पर धर्म के अनुचित प्रभावों से व्यक्ति की सामाजिक मुक्ति है। इसी कारण धार्मिक

व्यवहारों व क्रियाओं को पारलौकिक या आध्यात्मिक उद्देश्यों से नहीं अपितु सामाजिक उद्देश्य व व्यावहारिक लाभ के लिए किया जाता है।

(2) **तार्किकता (Rationality)**—धर्मनिरपेक्षीकरण या लौकिकीकरण का दूसरा तत्त्व यह है कि इसके अन्तर्गत सभी धार्मिक व परम्परागत अन्ध-विश्वासों व कुसंस्कारों को तर्क की कसौटी पर कसा जाता है। इसीलिए इसके अन्तर्गत सभी प्रचलित विश्वासों, विचारों अथवा चीजों में तार्किकता का तत्त्व अवश्य ही होता है। दूसरे शब्दों में, परम्परागत विश्वासों व विचारों को आधुनिक ज्ञान व तर्क के सन्दर्भ में परिवर्तित व परिमार्जित किया जाता है।

(3) **विभेदीकरण की प्रक्रिया (Process of differentiation)**—अन्त में लौकिकीकरण या धर्मनिरपेक्षीकरण के एक अति महत्त्वपूर्ण तत्त्व या लक्षण के रूप में विभेदीकरण की प्रक्रिया का भी उल्लेख किया जा सकता है। लौकिकता में विभेदीकरण की प्रक्रिया का तात्पर्य यह है कि इससे समाज में विभेदीकरण बढ़ता है। समाज के विभिन्न पहलू–आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, कानूनी आदि-एक दूसरे से पृथक् होते जाते हैं। इन सभी क्षेत्रों में धर्म का महत्त्व या प्रभाव कम होता जाता है। उदाहरण के लिए राज्य को ही ले लीजिए। पहले राजा पुरोहित के नीचे होता था, परन्तु आज धर्म और राज्य अलग-अलग हो गए हैं। स्पष्ट ही है कि इस प्रक्रिया के अन्तर्गत जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में धर्म का बन्धन समाप्त होता जाता है।

भारतीय समाज पर धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव
(Impact of Secularization on Indian Society)

धर्मनिरपेक्षीकरण या लौकिकीकरण की प्रक्रिया अंग्रेजी शासन-काल में कुछ विशेष परिस्थितियों में विकसित हुई और उसके बाद अनेक प्रकार के आन्दोलनों, नागरीकरण, औद्योगीकरण आदि के बढ़ने के साथ यह प्रक्रिया अत्यधिक तीव्र हो गई, यहाँ तक कि आज यह जन-जीवन के अनेकों महत्त्वपूर्ण पहलुओं को प्रभावित कर रहा है।

डॉ. एम. एन. श्रीनिवास ने लौकिकीकरण या धर्मनिरपेक्षीकरण के सन्दर्भ में हुए अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों व प्रभावों को अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'Social Change in Modern India'* में अति सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। उसी प्रस्तुतीकरण के आधार पर भारतीय समाज में धर्मनिरपेक्षीकरण या लौकिकीकरण लौकिकता के सामाजिक प्रभावों को इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है—

(1) **अपवित्रता एवं पवित्रता की धारणा में परिवर्तन** (Changes in the Concept of Pollution and Purity)—भारतीय जीवन और धर्म में पवित्रता और अपवित्रता की धारणा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रायः भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पवित्रता और अपवित्रता की धारणा अवश्य विद्यमान है। अपवित्रता को गन्दगी, मलिनता व अस्वच्छता और यहाँ तक पाप के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है और पवित्रता को स्वच्छता, धार्मिकता या शुद्धता आदि के अर्थों में प्रयोग किया जाता है।

आज व्यवसाय जाति अथवा पवित्रता और अपवित्रता के आधार पर नहीं अपनाए जा सकते हैं। आजकल सभी व्यापार व नौकरी करते हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक समय में व्यवसायों की ऊँचाई-निचाई नापने के लिए शुद्धता और अशुद्धता के आधारों की अपेक्षा धन, सत्ता आदि को स्वीकार किया जा रहा है। आज पुरोहिती का व्यवसाय एक अफसरगिरी के व्यवसाय के नीचे दर्जे का है। इसी प्रकार भोजन, खान-पान व विवाह-सम्बन्धी नियमों में भी लौकिकता की प्रवृत्ति आती जा रही है।

(2) **जीवन चक्र व संस्कारों पर लौकिकीकरण या धर्मनिरपेक्षीकरण** (Impact of Secularization of Life-cycle and Rituals)—भारतीय जीवन में विशेषकर हिन्दू धर्म में संस्कारों को प्रमुख महत्त्व दिया जाता है। पूरे जीवन-चक्र में अनेक संस्कार करने होते हैं, जैसे—गर्भाधान, नामकरण, उपनयन, समावर्तन, विवाह, अंतेष्टि आदि। ये सभी संस्कार हिन्दू-धर्म में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उदाहरण के लिए उपनयन संस्कार किए बिना कोई भी द्विज नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य संस्कारों का भी महत्त्व है। लौकिकीकरण की प्रक्रिया इन सभी संस्कारों के महत्त्व को कम करती जा रही है। यहाँ तक कि कुछ संस्कार तो बिल्कुल ही समाप्त से हो गए हैं।

(3) **धार्मिक जीवन में लौकिकीकरण या धर्मनिरपेक्षीकरण** (Secularization in Religions Life)—धार्मिक जीवन में भी धर्म निरपेक्षीकरण बढ़ रहा है। पूजा-पाठ के आसनों पर बैठकर घंटों पूजा करने के बजाय स्नान करते हुए ही पूजा-पाठ कर दी जाती है। इसी प्रकार आज भजनों, हरि कथाओं आदि को आकाशवाणी या टी.वी. चैनलों पर घर बैठे ही सुन लिया जाता है। आज लोग पण्डितों को दान देने के बजाय शिक्षा संस्थानों, समाजसेवी संगठनों, विधवा आश्रमों, चिकित्सालयों आदि को दान देना अधिक पसन्द करते हैं। विश्व हिन्दू परिषद की रचना भी धर्मनिरपेक्षीकरण का अनुपम उदाहरण है।

(4) **जाति संरचना पर प्रभाव** (Impact on Caste-Structure)—लौकिकीकरण या धर्मनिरपेक्षीकरण के प्रभाव में आकर जाति-प्रथा में एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सबसे नीची जाति की स्थिति में सुधार होना है। आज हरिजनों की स्थिति पहले जैसी नहीं है। व्यक्ति जन्म पर आधारित समाज के विभाजन को अवैज्ञानिक मानने लगे हैं। इसका वास्तव में संपूर्ण श्रेय पूज्य बापू को ही देना चाहिए। आपके हरिजन आन्दोलन ने न केवल स्वस्थ जनमत का निर्माण किया; अपितु सरकार को भी हरिजनों के उत्थान के सम्बन्ध में प्रयत्नशील बनाया। आज सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों में उन्हें राज्य की ओर से केवल समान अधिकार ही प्राप्त नहीं हैं बल्कि प्रत्येक प्रकार की नौकरियों, विधान-मण्डलों, मन्त्रिमण्डलों आदि में उनके लिए स्थान भी सुरक्षित कर दिए गए हैं।

(5) **परिवार पर लौकिकता का प्रभाव** (Impact of Secularization on Family)—सामाजिक जीवन में परिवार एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था का स्थान रखता है। भारतीय समाज में तो इसका और भी महत्त्व है। यहाँ की प्रमुख विशेषता 'संयुक्त परिवार व्यवस्था' रही है। वास्तव में संयुक्त परिवार एक अति प्राचीन संस्था है और इस देश की परिस्थितियों को देखते हुए यह उचित भी था। भारत एक कृषि-प्रधान देश है, खेती ही यहाँ के अधिकतर लोगों का प्रमुख व्यवसाय रहा है। खेती का काम परिवार के आधार पर होता है और साथ ही इसके लिए कुछ लोगों की भी आवश्यकता होती है। परिवार में परम्परागत त्यौहार अब भी मनाए जाते हैं परन्तु केवल नाममात्र के लिए। इसके अतिरिक्त उनको धार्मिक त्यौहार न समझकर, एक सामाजिक अवसर अधिक माना जाता है। इस प्रकार परिवार के धार्मिक कार्यों में भी काफी कमी हुई है। पूजा-पाठ, कथा, साधु-सन्तों में विश्वास आदि सभी बातों में लौकिक बातों का समावेश हो रहा है। स्पष्ट ही है कि परिवार पर लौकिकीकरण या लौकिकता का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

(6) **ग्रामीण समुदाय में लौकिकता या धर्मनिरपेक्षीकरण** (Secularism in Village Community)—जहाँ एक ओर नगरों में पर्याप्त लौकिकीकरण हुआ है, वहाँ दूसरी ओर ग्रामीण समुदाय भी इस प्रक्रिया से अप्रभावित नहीं हैं। आज ग्रामीण समुदायों में निरन्तर जाति-पंचायतों की शक्ति घटती जा रही है और उनका स्थान जनता द्वारा चुने हुए प्रति निधियों से गठित पंचायतों ने ले लिया है। एक अर्थ में, जैसा कि डॉ. **श्रीनिवास** ने भी कहा है, ग्रामीण समुदायों में राजनीतिकरण

की प्रक्रिया चल रही है। आज ग्रामों में प्रत्येक व्यक्ति राजनीति में सक्रिय भाग लेने का इच्छुक है। देश-विदेश की राजनैतिक बातों का ज्ञान करने की सभी की उत्कट इच्छा रहती है। शाम को चौपाल पर अब धार्मिक या सामाजिक विषयों पर विचार करने की बजाय राजनैतिक बातों पर बहस होती है। ग्रामीण जीवन में अब एकतन्त्र की बजाय प्रजातन्त्र का राज्य है क्योंकि अब जमींदार और साहूकार के राजनैतिक अधिकार समाप्त हो गए हैं।

3

राज्य और सामाजिक परिवर्तन
(State and Social Change)

राज्य समाज का वह पक्ष है जिसके अन्तर्गत विभिन्न अभिकरण या संस्थाएँ राज्य के नाम से जानी जाती हैं। और उन्हें निर्दिष्ट भू-क्षेत्र पर शारीरिक शक्ति के प्रयोग का वैधानिक एकाधिकार प्राप्त होता है। मैक्स वेबर ने इसे, *''वैधानिक हिंसा का एकाधिकार''* कहा है। इस एकाधिकार या शक्ति को लागू करने के लिए राज्य के पास सैनिक बल, नागरिक सेवा, नौकरशाह, न्यायिक व्यवस्था चुने हुए प्रतिनिधियों की स्थानीय और राष्ट्रीय परिषदें होती हैं। इस शक्ति का प्रयोग समाज के सदस्यों (देश की जनता) पर नियन्त्रण स्थापित करने अथवा दूसरे समाजों (विदेशियों) के विरुद्ध किया जाता है। राज्य की आवाज कानून होते हैं तथा इसके अभिकर्ता (Agents) वे लोग होते हैं जो कानून को बनाते और लागू करते हैं। इन्हीं अभिकर्त्ताओं द्वारा सरकार की रचना और संचालन होता है। परन्तु राज्य सरकार तथा देश में अन्तर है। देश लोगों का एक स्वायत्तता प्राप्त राजनीतिक संगठन है। सरकार लोगों का ऐसा समूह है जिसे राज्य के प्रायोजनों को पूरा करने का दायित्व सौंपा गया होता है तथा उन्हें इन दायित्वों को निभाने के लिए सभी अधिकार प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत राज्य के अन्तर्गत शक्ति प्रयोग सम्बन्धी संस्थाएँ, समितियाँ, परम्पराएँ तथा राजनीतिक साधनों जैसे संविधान एवं चार्टर आदि सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार सरकार लोगों का एक ऐसा समूह होता है जो एक निश्चित समय में राज्य में सत्ता के पदों को धारण करते हैं। इस मायने में सरकारें आती-जाती रहती हैं, परन्तु राज्य स्थिर रहता है।

भारत एक कल्याणकारी राज्य है। आर्थिक-सामाजिक सुधारों में राज्य की भूमिका सर्वोपरि होती है। कल्याणकारी राज्य वह व्यवस्था है जिसमें सरकार अपने नागरिकों के कल्याण का दायित्व प्राथमिक रूप से स्वीकार करती है। राज्य यह सुनिश्चित करता है कि लोगों के पास भोजन, मकान, स्वास्थ्य सुविधाएँ, शिक्षा, रोजगार जैसी मूलभूत सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में हों। इसलिए राज्य की कल्याणकारी भूमिका का अत्यधिक महत्त्व होता है। राज्य अपने सभी नागरिकों के लाभ के लिए तथा समाज के कमजोर और सामाजिक आर्थिक रूप से वंचित समुदायों को अधिकार दिलाने के लिए विविध योजनाओं एवं कार्यक्रमों को लागू करता है।

भारत का लोकतंत्र विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। हमारे लोकतंत्र में प्रभुसत्ता जनसाधारण के हाथों में होती है। अर्थात लोकतंत्र में सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग जनता अथवा नागरिक करते हैं। हमने आजादी के बाद गणतंत्रीय संविधान एवं संसदीय शासन प्रणाली स्वीकार किया, जिसने सभी नागरिकों के लिए न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारे को कायम रखने का वचन दिया गया है।

आगे हम आजादी के बाद भारत में राज्य की भूमिका का निर्धारण और राज्य द्वारा किए गए कार्यों से देश में आए सामाजिक परिवर्तनों का मूल्यांकन करेंगे।

संवैधानिक प्रावधान
(Constitutional Provision)

संविधान एक आधारभूत कानूनी दस्तावेज है जिसके अनुसार देश की शासन प्रणाली क्रियान्वित होती है। ये वे आधारभूत कानून हैं जो सरकार के प्रमुख अंगों उनके कार्य क्षेत्र एवं नागरिकों के अधिकारों को सुनिश्चित करते हैं तथा उनकी सीमाएँ निर्धारित करते हैं इस प्रकार संविधान देश के सभी कानूनों से श्रेष्ठ होता है। भारत का संविधान 26 नवम्बर 1949 को पास किया गया किन्तु इसको लागू 26 जनवरी 1950 को किया गया। इस संविधान की अनेक विशेषताएँ हैं। भारत एक प्रभुसत्ता सम्पन्न समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक, संसदीय शासन तत्त्व युक्त गणराज्य है।

संविधान द्वारा भारत में लोकतांत्रिक समाज की व्यवस्था की गई। इस व्यवस्था में सभी नागरिकों को समान राजनीतिक अधिकार मिले हैं और शासन जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है। संविधान के अन्तर्गत ऐसे प्रावधान हैं जो लोगों के सर्वांगीण विकास के लिए अवसर प्रदान करते हैं। भारतीय

संविधान की प्रस्तावना उसमें वर्णित राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त, मौलिक अधिकार और 38, 39 तथा 46 जैसे विशिष्ट अनुच्छेद जनकल्याण के प्रति राज्य की वचनबद्धता के प्रमाण हैं। इस मायने में संविधान सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख माध्यम है। यहाँ हम कुछ सवैधानिक प्रावधानों की विस्तार से चर्चा करेंगें।

मौलिक अधिकार
(Fundamental Rights)

भारतीय संविधान मौलिक अधिकारों के द्वारा देश के प्रत्येक नागरिक को सामाजिक आर्थिक न्याय दिलाता है। संविधान के खण्ड तीन के अनुच्छेद 12 से 35 में छह मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है–

(1) **समानता का अधिकार** (Right to Equality)— देश के कानून सभी पर समान रूप से लागू होते हैं। धर्म, जाति, जन्म स्थान, लिंग आदि के आधार पर सरकार किसी के खिलाफ भेदभाव नहीं कर सकती। लेकिन कुछ विशेष वर्गों, जैसे अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों अन्य पिछड़ें वर्गों तथा महिलाओं की भलाई के लिए विशेष प्रावधान किए जा सकते हैं। समानता की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम संविधान के अनुच्छेद 17 के द्वारा अस्पृश्यता तथा जाति पर आधारित छुआछूत का निषेध लगाया गया है।

(2) **स्वतंत्रता का अधिकार** (Right to Freedom)— संविधान ने प्रत्येक नागरिक को कुछ महत्त्वपूर्ण स्वतंत्रताएँ दी हैं जैसे (i) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, (ii) बिना हथियार सभा करने का अधिकार, (iii) संगठन अथवा संघ बनाने का अधिकार, (iv) देश के किसी भी भाग में मुक्त रूप से आने जाने का अधिकार, (v) देश के किसी भी भाग में घर बनाने और बसने का अधिकार, (vi) कोई भी पेशा अपनाने या व्यापार करने का अधिकार।

(3) **शोषण के विरुद्ध अधिकार** (Right against Exploitation)— संविधान किसी से जबरन काम कराने तथा किसी को बंधुवा बनाने की मनाही करता है। 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों से फैक्ट्रियों, खानों में काम करवाना और जोखिम भरे काम करवाना मना है।

(4) **धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार** (Right to Freedom of Religion)—कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म का पालन या प्रचार कर सकता है। लेकिन सार्वजनिक व्यवस्था नैतिकता और स्वास्थ्य को देखते हुए इस अधिकार पर पाबन्दी लगाई जा सकती है। ताकत प्रलोभन अथवा धोखा धड़ी से धर्म परिवर्तन

के लिए धर्म प्रचार के अधिकार का प्रचार नहीं किया जा सकता।

(5) **सांस्कृतिक और शैक्षणिक अधिकार** (Cultural and Educational Rights)–अल्प-संख्यकों को अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि के संरक्षण के लिए विशेष अधिकार दिए गए हैं।

(6) **संवैधानिक उपचारों का अधिकार** (Right to Constitutional Treatment)—इसके अन्तर्गत देश के सभी नागरिकों को अपने मूल अधिकारों के क्रियान्वन के लिए न्याय पाने का अधिकार है। मूल अधिकारों का हनन होने पर चाहे तो वह सीधे उच्चतम न्यायालय में गुहार लगा सकता है।

राज्य के नीति-निदेशक तत्त्व
(The Directive Principles of the State)

संविधान के खण्ड चार के अनुच्छेद 36 से लेकर 51 तक राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। नीति-निदेशक तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण पक्ष इसमें निहित है कि, *''राज्य लोगों के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए एक ऐसे सामाजिक ढाँचे को प्रभावी ढंग से सुदृढ़ करेगा जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को संपोषित करेगा।''* इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, राज्य–(i) सभी नागरिकों के लिए आजीविका के उपयुक्त स्त्रोत निश्चित करेगा। (ii) लोगों के हित के लिए संपत्ति का उचित नियन्त्रण एवं वितरण करेगा। (iii) समान कार्य के लिए समान वेतन सुनिश्चित करेगा। (iv) आर्थिक उन्नति द्वारा सभी के लिए स्वास्थ्य सुविधाओं की व्यवस्था करेगा। (v) बाल-मजदूरी की रोकथाम करेगा।

ये सिद्धान्त वस्तुतः संविधान द्वारा केन्द्र और राज्य की सरकारों को दिए गए निर्देश हैं जिनके आधार पर ये सरकारें नीतियाँ बनाएँगी। इन नीतियों द्वारा देश में न्यायोचित समाज की स्थापना में मदद मिलेगी। इस सिद्धान्तों का उद्देश्य ऐसी आर्थिक और सामाजिक दशाओं का सृजन करना है, जिनके अन्तर्गत देश के नागरिक उत्तम जीवन बिता सकें। राज्य से सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कार्यक्रम सुनिश्चित करने के लिए समुचित कदम उठाने की अपेक्षा की जाती है। इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत–(i) ग्राम पंचायत की व्यवस्था, (ii) काम करने एवं शिक्षा का अधिकार, (iii) नागरिकों के लिए समान आधार संहिता, (iv) मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा व्यवस्था, (v) अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्ग, अल्पसंख्यक, बाल, महिलाएँ, वृद्धजन तथा अन्य

कमजोर वर्गों के शैक्षणिक तथा आर्थिक हितों की रक्षा और (vi) न्यायपालिका तथा कार्यपालिका को अलग रखना आदि कार्य आते हैं।

परन्तु मौलिक अधिकारों की भाँति नीति निदेशक तत्त्वों को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती और न ही न्यायालय इन्हें बदल सकती है। संविधान में इनके उल्लेख का आशय यह है कि सरकारें नीति का निर्माण करते समय इन दूरगामी उद्देश्य को भूलें नहीं और उन्हें यथार्थ रूप में ही लागू कराने का प्रयास करें। यदि सरकार इन सिद्धान्तों को बदलने के लिए कानून बनाती है तो उसे न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि कानून मौलिक अधिकारों के विरुद्ध है। न्यायपालिका संविधान में वर्णित नागरिकों के अधिकारों को दिलाने में संरक्षक (Custodian) की भूमिका निभाती है।

मौलिक कर्त्तव्य
(Fundamental Duties)

भारतीय संविधान में जिस प्रकार मौलिक अधिकारों का उल्लेख है उसी प्रकार नागरिकों के मौलिक कर्त्तव्यों का भी वर्णन किया गया है। 1976 में पारित 42 वें संविधान संशोधन विधेयक द्वारा संविधान में मूल कर्त्तव्यों को भी सम्मिलित किया गया है। प्रमुख रूप से इन मूल कर्त्तव्यों का संविधान में समावेश नागरिकों में देश भक्ति की भावना विकसित करने, आचारसंहिता के पालन में सहायता करने, राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने देश की एकता और अखण्डता की रक्षा करने, राज्य को अपने कर्त्तव्यों को वहन करने तथा देश में पारस्परिक सौहार्द की भावना विकसित करने के लिए किया गया है। मूल कर्त्तव्यों के माध्यम से नागरिकों से आशा की जाती है कि वे–

- संविधान का पालन करें तथा राष्ट्र ध्वज एवं राष्ट्र गान का सम्मान करें।
- राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक विचारों को संजोए रखें और उनका पालन करें।
- भारत की संप्रभुता, एकता, और अखण्डता को कायम रखें तथा रक्षा करें।
- आवश्यकता पड़ने पर देश की रक्षा एवं राष्ट्र की सेवा करें।
- भारत के सभी नागरिकों के बीच समरसता तथा भाईचारे की भावना का निर्माण करें तथा ऐसी प्रथाओं का त्याग करें जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं।
- राष्ट्र की मिश्रित संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्त्व समझें और उसका परिरक्षण करें।

- प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा करें और उसका संवर्धन करें तथा सभी जीव जन्तुओं पर दया करें।
- वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद, और ज्ञानोपार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करें।
- सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करें और हिंसा से दूर रहें।
- व्यक्तिगत तथा सामुहिक कार्य कलापों के सभी क्षेत्रों में उत्कृष्टता की ओर बढ़ने का प्रयास करें।

भारतीय संविधान के उपर्युक्त प्रावधान ऐसे हैं जो सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। अब हम संविधान के ऐसे विशेष प्रावधानों का वर्णन करेंगे जो समाज के पिछड़े एवं कमजोर वर्गों के लोगों, जैसे—महिलाओं एवं बच्चों अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्गों तथा अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित हैं। ये विशेष प्रावधान भी संविधान की उपर्युक्त मूल अवधारणाओं से ही निकले हैं। अब हम इन समुदायों या वर्गों का अलग-अलग विश्लेषण करेंगे।

महिलाएँ
(Women)

भारतीय संविधान के 14 वें अनुच्छेद में जहाँ देश की सभी महिलाओं और पुरुषों को राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में समान अधिकार रखे अवसर प्राप्त हैं, वहीं 15 वें अनुच्छेद में लिंग के आधार पर व्यक्ति के साथ भेद-भाव में रोक है। अनुच्छेद 15 (3) राज्य को महिलाओं के हित के लिए अलग से नियम बनाने का अधिकार देता है। इसी प्रकार 39 वें अनुच्छेद में महिलाओं को आजीविका का समान अवसर तथा समान काम के लिए समान वेतन देने के लिए राज्यों को निर्देश दिया गया है। अनुच्छेद पर राज्यों को काम करने के लिए उपयुक्त एवं मानवीय परिस्थितियों को सुनिश्चित करने तथा प्रसूति सुविधाएँ देने का निर्देश देता है। अनुच्छेद 51 'क' में प्रत्येक नागरिक को यह कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है कि वे ऐसा कोई भी काम न करें जो महिलाओं के सम्मान को ठेस पहुँचाए।

राष्ट्र के विकास की मुख्यधारा में महिलाओं को जो उचित स्थान है उसके बारे में व्यापक स्तर पर लोगों में जागरुकता पैदा करने के उद्देश्य से वर्ष 2001 को **'महिला अधिकारिता वर्ष'** के रूप में मनाया गया। इस दौरान एक ऐतिहासिक दस्तावेज 'महिला अधिकारिता के लिए राष्ट्रीय नीति' पारित किया गया। योजना

आयोग के उपाध्यक्ष की अध्यक्षता में गठित कार्यदल ने महिलाओं के जीवन से सम्बन्धित करीब 22 कानूनों की विस्तृत समीक्षा का काम अपने हाथ में लिया। राष्ट्रीय महिला आयोग भी महिलाओं में कल्याण की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। आयोग का गठन 31 जनवरी 1992 को हुआ और वह एक स्वायत्तशासी संस्था के रूप में काम कर रहा है। आयोग को महिलाओं के अधिकारों और उनकी उन्नति को सुरक्षा प्रदान करने सम्बन्धी कार्य सौंपे गए हैं।

बच्चे
(Child)

अनुच्छेद 15 (3) राज्यों को महिलाओं की तरह बच्चों के हित के लिए भी अधिकार देता है। अनुच्छेद 24 में 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को किसी कारखाने, खदान अथवा दूसरे खतरनाक व्यवस्थाओं में कार्य करवाने पर पूर्णतः निषेध है।

इसी प्रकार अनुच्छेद 45 में 14 वर्ष की उम्र तक के सभी बच्चों को मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा देने की बात कही गई है। हमारे देश में बढ़ी संख्या में बेसहारा बच्चों को अभावग्रस्तता, उपेक्षा, उत्पीड़न और शोषण का शिकार होना पड़ता है। इसलिए वेसहारा बच्चों के लिए 1992-93 में एक परियोजना शुरू की गई थी। इसके तहत बेसहारा बच्चों को समुदाय आधारित एकीकृत गैर-संस्थागत मूलभूत सेवाएँ प्रदान की जाती हैं। इस योजना को 1998-99 में संशोधित किया गया और इसका नाम **'बेसहारा बच्चों के लिए समन्वित कार्यक्रम'** रखा गया। इस कार्यक्रम में बेसहारा बच्चों को आवारा, पोषण, स्वास्थ्य, रक्षा, साफ-सफाई, सुरक्षित पेयजल, शिक्षा, मनोरंजन के साधन और उन्हें शोषण और दुर्व्यवहार से बचाने जैसे कार्यक्रम शामिल हैं। कानूनी शिकंजे में फँसे किशोरों और बेसहारा बच्चों को मदद देने के लिए किशोर, न्यायिक (बच्चों की सुरक्षा और देखभाल) अधिनियम, 2000 (किशोर न्यायिक अधिनियम, 1986 का संशोधित रूप है।) इसी प्रकार महिला एवं बाल विकास को आवश्यक गति देने के लिए मानव संसाधन मंत्रालय के एक अंग के रूप में 1985 में महिला एवं बाल विकास विभाग स्थापित किया गया। यह विभाग देशभर से महिलाओं एवं बच्चों की स्थिति सुधारने के लिए प्रयासरत सरकारी तथा गैर सरकारी संगठनों के प्रयासों में तालमेल रखता है।

जनगणना 2001 के अनुसार भारत में 6 वर्ष से कम आयु के करीब 15

करोड़ 78 लाख 60 हजार बच्चे हैं। जो देश की कुल जनसंख्या का 15.37 प्रतिशत हैं। राष्ट्रीय बालनीति स्वीकार करने के बाद 1975 में 33 परियोजनाओं में एक अग्रगामी योजना के रूप में समन्वित बाल विकास योजनाओं को शुरू किया गया। समन्वित बाल विकास सेवाएँ सामाजिक, आर्थिक, और स्त्री पुरुष को कम करना चाहंती हैं। विभाग ने इस योजना के समस्त तंत्र का इस्तेमाल करते हुए किशोरियों के लिए विशेष कार्यक्रम तैयार किया है। जिनमें मुख्य जोर उन लड़कियों की जरूरतों को पूरा करने पर है जिनकी स्कूल की पढ़ाई छूट गई है और जो 11 से 18 वर्ष आयु की हैं। किशोरियों की योजना का **'किशोरी शक्ति योजना'** का नाम दिया गया है।

अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़े वर्ग (Scheduled Castes, Scheduled Tribes and OBCs)

समाज के कमजोर और सामाजिक आर्थिक रूप से वंचित वर्गों को अधिकार दिलाने के लिए अधिकांश कल्याण कार्यक्रमों के दबाव को देखते हुए 25 सितम्बर, 1985 में गठित कल्याण मंत्रालय को 25 मई, 1998 में नया नाम दिया गया–सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय। अनुसूचित जनजातियों के विकास का कार्य अब 13 अक्तूबर, 1999 को गठित जनजातीय कार्य मंत्रालय संभाल रहा है।

अनुसूचित जातियों का निर्धारण संविधान के अनुच्छेद 341 के अनुसार किया गया है। वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार देश में अनुसूचित जातियों के लोगों की संख्या 13.82 करोड़ थी जो देश की कुल तत्कालीन 84.63 करोड़ जनसंख्या का 16.48 प्रतिशत है। संविधान में इन वर्गों के हितों की रक्षा के लिए अनेक उपाए सुझाए हैं। साथ ही, हर पंचवर्षीय योजना में इन वर्गों के विकास को राष्ट्रीय नीति का मुख्य लक्ष्य माना गया है।

संविधान के अन्तर्गत, सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों तथा सरकारी अनुदान पाने वाली स्वायत्तशासी संस्थाओं और संस्थानों की असैनिक नौकरियों में अनुसूचित जातियों के लिए 15 प्रतिशत और आरक्षण का प्रावधान है। इन्हें कई अन्य रियायतें भी मिलती हैं, जिनमें भर्ती की अधिकतम आयु सीमा में 5 वर्ष की छूट, आवेश शुल्क में कमी या छूट चयन में उदारता और पदोन्नति में विशेष व्यवस्थाएँ सम्मिलित हैं। केन्द्र सरकार ने हर मंत्रालय और विभाग में अनुसूचित जातियों के कर्मचारियों के हितों की देखरेख के लिए एक सम्पर्क

अधिकारी नियुक्त किया है। 'ग' और 'ध' वर्ग के पदों के लिए गठित चयन समितियों और बोर्डों में अनुसूचित जातियों का उचित प्रतिनिधित्व होना अनिवार्य है। इसी प्रकार, अनुसूचित जातियों के लिए लोकसभा, विधानसभा तथा पंचायती राज के निकायों में स्थान आरक्षित हैं।

अनुसूचित जनजातियों के विकास पर अधिक ध्यान केन्द्रित करने के उद्देश्य से अक्टूबर 1999 में एक जनजातीय कार्य अलग मंत्रालय का गठन किया गया। यह मंत्रालय अनुसूचित जनजातियों के बारे में नीति निर्धारण करने, योजनाएँ बनाने और उनके विकास के लिए कार्यक्रमों और योजनाओं में समन्वय स्थापित करने वाला शीर्ष मंत्रालय है। वर्ष 1991 जनगणना के अनुसार, अनुसूचित जनजातियों को अखिल भारतीय साक्षरता दर 29.60 प्रतिशत है। जबकि साक्षरता का राष्ट्रीय औसत 52.21 प्रतिशत है। जनजातीय महिलाओं तथा सामान्य महिलाओं में साक्षरता के प्रतिशत में और भी अधिक अन्तर है। जनजातीय महिलाओं की साक्षरता का औसत सिर्फ 16.18 प्रतिशत है जबकि देश की सामान्य महिलाओं का साक्षरता प्रतिशत 39.29 प्रतिशत है।

देश में अब 194 समन्वित जनजातीय विकास परियोजनाएँ चल रही हैं। जहाँ पर प्रखण्डों अथवा प्रखण्ड समूहों की कुछ जनसंख्या में जनजातीय आबादी 50 प्रतिशत से अधिक है। छठी योजना में समन्वित विकास कार्यक्रम से बाहर के क्षेत्रों को पहचान कर ली गई है। जिनमें 10 हजार की कुल जनसंख्या में से कम से कम 5 हजार जनजातीय लोग हैं और उन्हें एम०ए०डी०ए० के अन्तर्गत जनजातीय उपयोजना में शामिल कर लिया गया है। अब तक देश में 252 एम०ए०डी०ए० क्षेत्रों की पहचान कर ली गई है। इसके अलावा 79 ऐसी बस्तियों की भी पहचान कर ली गई है जिनकी 5000 की आबादी में अनुसूचित जातियों की संख्या 50 प्रतिशत है।

अनुसूचित जातियों की तरह अनुसूचित जनजातियों को भी सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों तथा सरकारी अनुदान पाने वाली स्वायत्तशासी संस्थाओं और संस्थानों की असैनिक नौकरियों में 7.5 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान है। अनुसूचित जनजातियों को भर्ती की अधिकतम आयु मैं 5 वर्ष की छूट, आवेदन शुल्क में कमी या छूट चयन में उदारता और पदोन्नति में भी विशेष आरक्षण दिया जाता है। 'ग' और 'घ' वर्ग के पदों के लिए गठित चयन समितियों और बोर्डों में अनुसूचित जनजातियों को उचित प्रतिनिधित्व देना अनिवार्य है। केन्द्र सरकार के हर मंत्रालय और विभाग में अनुसूचित जनजातियों के हितों की

देखरेख के लिए एक सम्पर्क अधिकारी नियुक्त किया गया है। अनुसूचित जातियों/जनजातियों के बेरोजगार युवकों के माता-पिता को बच्चों के रोजगार सम्बन्धी सलाह दी जाती है।

शार्टहैण्ड और टाइपिंग का प्रशिक्षण भी निःशुल्क दिया जाता है। केन्द्र सरकार के वर्ग 'ग' के पदों के लिए कर्मचारी चयन आयोग, बैंकिग सेवा भर्ती बोर्ड अनुसूचित जाति तथा जनजाति के उम्मीदवारों को प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी के लिए निःशुल्क प्रशिक्षण देती है। शैक्षिक संस्थानों में प्रवेश के लिए सीटों का आरक्षण भी इन्हें मिलता है। इनको हॉस्टल सुविधा भी प्राथमिकता के आधार पर दी जाती है। इन वर्गों के विद्यार्थियों के लिए विशेष छात्रवृत्ति की व्यवस्था होती है।

अन्य पिछड़े वर्ग के लिए अनुच्छेद 16 (4) में राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह सरकारी सेवाओं तथा पदों में ऐसे किसी भी पिछड़े वर्ग को जिसे इनमें पर्याप्त आक्षरण नहीं मिला, आरक्षण की व्यवस्था कर सकता है। अनुच्छेद 16 या 38, 46 और अनुच्छेद 38 के भाग 16 के खण्ड (8) के अन्तर्गत संविधान में दिए गए अन्य प्रावधानों के अन्तर्गत राज्यों के लिए अनिवार्य कर दिया गया है, वे 'जहाँ तक सम्भव हो सके सामाजिक व्यवस्था लाएँ और प्रभावी ढंग से प्रेषित कर जनकल्याण को बढ़ावा दें, जिनमें न्याय, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को सूचित करें।' अन्य कमजोर पिछड़े वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को बढ़ावा देने और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उन्हें बचाने के लिए अनुच्छेद 46 में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्देश है। संविधान के भाग 16 में 'कुछ वर्गों से सम्बन्धित विशेष प्रावधान' है। इसी भाग के अनुच्छेद 340 में पिछड़े वर्गों की स्थिति का पता लगाने के लिए आयोग गठित करने की व्यवस्था की गई है।

वर्ष 2001-02 में सरकार ने अन्य पिछड़े वर्गों की केन्द्रीय सूची में सम्मिलित संशोधित करने सम्बन्धी एक अधिसूचना जारी की है। विभिन्न राज्यों केन्द्र शासित प्रदेशों से सम्बन्धित अन्य पिछड़े वर्गों की केन्द्रीय सूची में अब तक 2,268 पिछड़ी जातियों/समुदायों को शामिल किया गया है। अन्य पिछड़े वर्गों (OBCs) को भारत सरकार सार्वजनिक उपक्रम और सरकार से अनुदान करने वाली स्वायत्त संस्थाओं या संस्थानों के असैनिक (सिविल) पदों और सेवाओं को 27 प्रतिशत आरक्षण दिया जाता है। लेकिन इस आरक्षण में इन वर्गों के समृद्ध लोगों यानि 'मलाईदार परत' (Cremy layer) में आने वाले लोगों को शामिल नहीं करने का प्रावधान है।

संवैधानिक पदों पर आसीन व्यक्ति, जैसे–राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायधीश संघ लोक सेवा आयोग और राज्यों के लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष तथा सदस्य, मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा भारत के महानियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के पद 'मलाईदार परत' में सम्मिलित हैं। इसलिए इनके पुत्र-पुत्रियों को 27 प्रतिशत आरक्षण का हक नहीं है।

इसी प्रकार, अगर माता-पिता में से कोई एक 'ए' वर्ग का राजयत्रित अधिकारी हो। अगर माता-पिता में दोनों 'बी' वर्ग के राजपत्रित अधिकारी हों। अगर माता-पिता में कोई एक सेवा में कर्नल अथवा वायुसेना या नौसेना या अर्द्धसैनिक बलों में उसके समकक्ष पद पर हो। ऐसे परिवार, जिनके पास संबद्ध राज्य के भूमि हदबन्दी-कानूनों में निर्धारित अधिकतम भूमि के बराबर या उसमें 85 प्रतिशत से ज्यादा भूमि है। लगातार तीन वर्षों तक एक लाख रुपए वार्षिक से ज्यादा आमदनी वाले अथवा सम्पत्ति कर अधिनियम के अन्तर्गत निर्धारित छूट सीमा से ज्यादा सम्पत्ति वाले लोगों (आय के निर्धारण में वेतन अथवा कृषि भूमि से प्राप्त आय नहीं जोड़ी जाएगी) को भी 27 प्रतिशत का आरक्षण नहीं मिलेगा।

पिछड़े वर्ग के लोगों को भर्ती की अधिकतम आयु-सीमा में 3 वर्ष की छूट तथा चयन में उदारता की सुविधाएँ भी मिलती हैं। सरकार ने स्थायी आधार पर एक राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग भी गठित किया है जो समय-समय पर किसी जाति या समुदाय को अन्य पिछड़े वर्गों की सूची में शामिल करने या सूची से हटाने की सिफारिश करता है इसके अलावा विभिन्न राज्यों ने भी अपने यहाँ के पिछड़े वर्गों की अलग-अलग सूचियाँ अधिसूचित की हैं। इन वर्गों को संबद्ध राज्यों में पिछड़े वर्गों को देय आरक्षण तथा अन्य सुविधाएँ मिलती हैं।

अल्पसंख्यकों के लिए संवैधानिक सुरक्षा के उपाए
(Measures of Constitutional Security for Minorities)

सरकार ने राष्ट्रीय-स्तर पर पाँच समुदायों–मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध, पारसियों को अल्पसंख्यकों के रूप में अधिसूचित किया है। वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या का 17.17 प्रतिशत हिस्सा अल्पसंख्यक समुदायों का था। भारत में संविधान में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का प्रावधान है और अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति को संरक्षित रखने एवं अपनी इच्छानुसार शैक्षिक संस्थाएँ स्थापित करने एवं चलाने सम्बन्धी उनके अधिकारों को मान्यता प्रदान की गई है।

धार्मिक अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए संविधान में बताए गए विभिन्न उपायों तथा कानूनों पर कारगर तरीके से अमल सुनिश्चित करने के लिए जनवरी, 1978 में अल्पसंख्यक आयोग गठित किया गया। आयोग अल्पसंख्यकों के बारे में केन्द्र और राज्य सरकारों के कार्यान्वयन की नीतियों की समीक्षा करता है। आयोग हर वर्ष अपनी रिपोर्ट देता है। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 संसद द्वारा पारित किया गया है। इस अधिनियम के तहत पुराने आयोग के स्थान पर 17 मई, 1993 को वैधानिक अधिकार सम्पन्न राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग का गठन किया गया। आयोग में एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष और केन्द्र सरकार द्वारा नामित पाँच सदस्य होते हैं। 21 जनवरी, 2000 को राष्ट्रीय आयोग को पुनर्गठन किया गया।

संविधान के अनुच्छेद 350 (ख) के तहत भाषाई अल्पसंख्यकों को उपलब्ध कराई गई सुरक्षा से सम्बन्धित सभी मामले की जाँच के लिए भाषाई अल्पसंख्यक आयुक्त की नियुक्ति की गई है। आयुक्त का मुख्यालय इलाहाबाद में है और उसने क्षेत्रीय कार्यालय कोलकाता, बेलगाम और चेन्नई में हैं। अब तक 36 रिपोर्ट संसद में प्रस्तुत की जा चुकी हैं।

अल्पसंख्यकों के कल्याण के लिए 15 सूत्रीय कार्यक्रम का आधार तीन तरफा है। जैसे–(1) साम्प्रदायिक दंगों के दौरान पैदा हुई परिस्थितियों से निपटना तथा साम्प्रदायिक दंगों की रोकथाम करना, (2) केन्द्र और राज्य सरकारों तथा सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थानों के अन्तर्गत आने वाले रोजगारों में अल्पसंख्यक समुदायों को समुचित प्रतिनिधित्व दिलाना, (3) अल्पसंख्यकों के सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए अन्य कदम उठाना। यह कार्यक्रम राज्य सरकारों, केन्द्र शासित प्रदेशों और सम्बन्धित मंत्रालय/विभागों द्वारा अमल में लाया जा रहा है। सार्वजनिक रोजगारों में अल्पसंख्यकों को रोजगार के अवसरों में सुधार लाने तथा व्यंवसायिक पाठ्यक्रमों में इनकी संस्था और बढ़ाने के उद्देश्य से सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय द्वारा 1992-93 से ही परीक्षा पूर्व कोचिंग योजना चलाई जा रही है। 9वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान अल्पसंख्यक समुदाय के कमजोर वर्गों के उम्मीदवारों को प्रशिक्षण देने के लिए 11.25 करोड़ रुपए जारी किए गए थे। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण और उन्हें वाजिफ अधिकार न मिलने के मामलों की शिकायतों की जाँच करता है। और उपयुक्त अधिकारियों के साथ ये मामले उठाता है। आयोग को ऐसे मामलों में सिविल अदालत जैसे अधिकार प्राप्त हैं।

योजना और सामाजिक परिवर्तन
(Planning and Social Change)

देश में आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन या विकास लाने के लिए योजनाएँ एक महत्त्वपूर्ण कारक हैं। भारत के संविधान में वर्णित राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों में आयोजना या योजना को सामाजिक उद्देश्यों और लक्ष्यों का आधार बनाया गया है। हमारी अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों को एक दूसरे का पूरक समझा जाता है। निजी क्षेत्र में संगठित उद्योगों के अलावा, लघु उद्योग, कृषि, व्यापार, आवास तथा निर्माण और अन्य क्षेत्रों की गतिविधियाँ आती हैं। राष्ट्रीय विकास के लिए व्यक्तिगत प्रयास और निजी पहल के साथ-साथ स्वैच्छिक सहयोग भी आवश्यक है। पहले आर्थिक आधारभूत तथा भारी उद्योगों में व्यापक पूँजी निवेश के जरिए सार्वजनिक क्षेत्र के विकास की व्यवस्था की गई। लेकिन अब सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश पर कमजोर दिया जा रहा है। और यह सोचा जा रहा है कि आयोजन अधिकाधिक संकेतात्मक हो।

भारत में योजना
(Planning in India)

स्वतंत्रता के कुछ समय बाद ही सन् 1951 से देश में पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई। इसके बाद देश में 2 अक्टूबर, 1952 में देश में सामुदायिक विकास योजनाओं का भी श्रीगणेश हुआ। भारत को जो खोखला ढाँचा अंग्रेज हमें सौंप गए थे, उसको फिर से समृद्ध और विकासशील बनाने के लिए देश के सामने पंचवर्षीय योजनाओं को अपनाने के अतिरिक्त कोई और उपाय न था। आयोजना या योजना से तात्पर्य देश की सामाजिक या आर्थिक पुनर्निमाण और प्रगति करने के उद्देश्य से उपलब्ध साधनों को एकत्रित तथा व्यवस्थित करके सुनिश्चित रूप में उपयोग में लाने को आयोजना कहते हैं।

भारत सरकार के योजना आयोग (Planning Commission) के अनुसार, *"आयोजना वास्तव में सुनिश्चित सामाजिक लक्ष्यों की दृष्टि से अधिकतम काम उठाने के लिए साधनों को संगठित करने तथा उपयोग में लाने की पद्धति है।"*

भारत में परिवर्तन लाने में आयोजना का महत्त्व
(Importance of Planning in bringing about change in India)

भारत में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने में आयोजना के महत्त्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें मुख्य हैं–

(1) आधुनिक भारत में आयोजना का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि आज यहाँ के आर्थिक तथा सामाजिक दोनों ही जीवन अत्यन्त विस्तृत और जटिल होते जा रहे हैं और इस जटिल आर्थिक और सामाजिक ढाँचे की प्रकृति तथा समस्याओं को बिना समझे-बुझे मनमाने तौर पर सुलझाना असम्भव है। इस कारण आज यह उत्तरोत्तर अनुभव किया जा रहा है। वैज्ञानिक आधारों पर उचित आयोजना के अनुसार सामाजिक तथा आर्थिक लक्ष्यों की ओर बढ़ने से ही अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है, यही हो भी रहा है। वास्तव में बिना उचित योजना के आर्थिक, और सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति सम्भव भी नहीं है।

(2) आयोजना के महत्त्व के सम्बन्ध में एक अन्य बात यह है कि आधुनिक समाज में अनेक शक्तिशाली स्वार्थ-समूह (Interest group) कार्य करते हैं जिनका लक्ष्य होता है देश में उपलब्ध हो सकने वाले अधिक-से-अधिक साधनों पर इस प्रकार अधिकार कर लेना कि उनके द्वारा उनके वैयक्तिक या समूहगत स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति हो सके। इससे आम जनता के सामान्य हितों की पूर्ति नहीं हो पाती है। सरकार द्वारा संगठित आयोजनों में इस प्रकार की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं। इस दृष्टि से भी भारत में आयोजना का महत्त्व अत्यधिक है।

(3) भारत आज अनेक जटिल समस्याओं का शिकार बना हुआ है। यह कृषि प्रधान देश होते हुए भी कृषि में अत्यधिक पिछड़ा हुआ है। इसका प्रमुख कारण कृषि सम्बन्धी सुविधाओं का न होना और वैज्ञानिक साधनों का उपयोग न करना है। दूसरी ओर औद्योगिक क्षेत्र में भी भारत अत्यधिक पिछड़ा हुआ है। कुटीर उद्योगों व छोटे उद्योगों की अवस्था काफी शोचनीय है। इसके अतिरिक्त बेकारी, निर्धनता, निवास-स्थान तथा जनसंख्या की भयंकर समस्याएँ देश की प्रगति को चुनौती देती हैं। इस चुनौती का उत्तर किस प्रकार और किस ढंग से दिया जाए? इसका एक ही उत्तर है और वह यह है कि वैज्ञानिक आधारों पर आधारित आयोजना के द्वारा ही आर्थिक समस्याओं का हल सम्भव है।

(4) भारत में समाज-कल्याण की दृष्टि से भी आयोजना का अत्यधिक महत्त्व है। आज इस देश में अनेक प्रकार के कल्याण कार्यक्रमों की आवश्यकता है जैसे मातृत्व तथा शिशु कल्याण कार्यक्रम, परिवार नियोजन, स्वास्थ्य, शिक्षा, गन्दी बस्तियों का हटाना, जनजाति तथा हरिजनों का कल्याण, विस्थापितों का पुनर्वास, शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से असमर्थ लोगों का कल्याण, मजदूरों का

कल्याण आदि। परन्तु ये भी कल्याण कार्य छुट-पुट तौर पर या अव्यवस्थित ढंग से ही नहीं किए जा सकते। इसके लिए तो सुनिश्चित आयोजना की आवश्यकता होती है। आयोजना के आधार पर ही भारत सरकार समाज-कल्याण कार्यक्रमों को स्वयं क्रियान्वित कर सकती है और साथ ही स्वयं-सेवी या ऐच्छिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता देकर उनके माध्यम से भी अनेक कार्यों को क्रियान्वित कर सकती है। भारत सरकार, अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण समाज-कल्याण कार्यक्रमों को देश में लागू कर रही है।

पंचवर्षीय योजनाएँ
(Five Year Plans)

देश के आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन या विकास लाने की दृष्टि से भारत में पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई गई हैं। इन समस्त योजनाओं का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है–

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1 अप्रैल, 1951 से 31 मार्च, 1956)

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1951 से प्रारम्भ हुई थी। जबकि इस योजना का अन्तिम प्रारूप दिसम्बर 1952 में प्रकाशित किया गया था। इस योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे–

- द्वितीय विश्वयुद्ध तथा देश के विभाजन के फलस्वरूप हुई क्षतिग्रस्त अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान करना।
- स्फीतिकारक प्रवृत्तियों को रोकना।
- देश की अर्थव्यवस्था को इस प्रकार से सबल बनाना कि भविष्य में द्रुत गति से आर्थिक विकास सम्भव हो सके। अर्थात् सड़कों का निर्माण करना, परिवहन एवं संचार की सुविधाएँ उपलब्ध कराना, सिंचाई एवं जलविद्युत परियोजनाओं का निर्माण करना आदि।
- उत्पादन क्षमता से वृद्धि तथा आर्थिक विषमता को यथासम्भव कम करना।
- खाद्यान्न संकट का समाधान करना तथा कच्चे मालों विशेषकर पटसन एवं रुई की स्थिति को सुधारना।
- ऐसी प्रशासनिक एवं अन्य संस्थाओं का निर्माण करना। जोकि देश के विकास कार्यक्रमों को लागू करने के लिए आवश्यक हों।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत पाँच वर्षों की अवधि में कुल 2,378 करोड़ रुपए व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। किन्तु योजनावधि में केवल 1,960 करोड़ रुपए ही व्यय किए गए कुल व्यय का 44.6% व्यय सार्वजनिक क्षेत्र के लिए निर्धारित किया गया था। इस योजना में कृषि को उच्चतम प्राथमिकता प्रदान की गई।

इस योजना में प्राप्ति लक्ष्यों से अधिक थी। योजना अवधि में राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि की चक्रवृद्धि दर 1993-94 की कीमतों पर 3.6% (लक्ष्य 2.1%) थी। जबकि प्रति व्यक्ति आय में 1.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई तथा वृद्धिमान पूँजी उत्पाद अनुपात (ICOR) 2.95 : 1 रहा पूँजी निवेश की दर राष्ट्रीय आय के 5% से बढ़ाकर 7% करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1 अप्रैल, 1956 से 31 मार्च, 1961)

भारतीय सांख्यिकीय संगठन कोलकाता के निदेशक **प्रो. पी. सी. महालनोबिस** के मॉडल पर आधारित द्वितीय पंचवर्षीय योजना। अप्रैल, 1956 से लागू की गई तथा 31 मार्च, 1961 को समाप्त हुई इस योजना का मूलभूत उद्देश्य देश में औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ करना था। जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था का सुदृढ़ आधार पर सर्वांगीण विकास किया जा सके। इसके अतिरिक्त 1956 में घोषित की गई औद्योगिक नीति में समाजवादी ढंग के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना को स्वीकार किया गया। संक्षेप में द्वितीय योजना के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किए गए थे–

- देश के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए 5 वर्षों में राष्ट्रीय आय में 25% की वृद्धि करना।
- द्रूत गति से औद्योगीकरण करना जिसमें आधारभूत उद्योगों तथा भारी उद्योगों के विकास पर पर्याप्त बल दिया गया हो।
- रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना।
- आय व सम्पत्ति की असमानता को कम करना तथा आर्थिक शक्ति का अधिक समान वितरण करना।
- पूँजी निवेश की दर को 7% से बढ़ाकर 1960-61 तक 11% करना।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सरकारी क्षेत्र में वास्तविक व्यय लगभग 4,672 करोड़ रुपए हुआ। द्वितीय योजना में 1993-94 की कीमतों पर राष्ट्रीय आय में 4.1% की वार्षिक वृद्धि हुई। किन्तु प्रति व्यक्ति आय मे 2.0% की वार्षिक वृद्धि

हुई। इस योजनावधि में राष्ट्रीय आय में 25% वृद्धि के लक्ष्य की प्राप्ति न होने का आंशिक कारण योजना में परिकल्पित आशावादी पूँजी उत्पाद अनुपात (Capital-Output Ratio) था।

महालनोबिस मॉडल में यह 2 : 1 कल्पित किया गया था, किन्तु वास्तव में यह 1980-81 की कीमतों पर 3.40 : 1 का अनुमानित किया गया। द्वितीय योजना के कुल परिव्यय की राशि 4,672 करोड़ रुपए में से 1,049 करोड़ रुपए की विदेशी सहायता प्राप्त हुई जो कुल परिव्यय का 24 प्रतिशत थी। द्वितीय योजनाकाल में देश के मूल्य स्तर में 30 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जबकि पहली योजना में इसमें 13 प्रतिशत की कमी आई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (1 अप्रैल, 1961 से 31 मार्च, 1966)

यह योजना 1 अप्रैल 1961 को प्रारम्भ होकर 31 मार्च, 1966 को समाप्त हुई इस योजना में अर्थव्यवस्था को आर्थिक गतिशीलता की अवस्था (Take-off stage) तक पहुँचाने का लक्ष्य रखा गया था तीसरी योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे–

- राष्ट्रीय आय में 5% से अधिक वार्षिक वृद्धि प्राप्त करना तथा पाँच वर्षों में 30% वृद्धि करना इसी प्रकार प्रति व्यक्ति आय में इसी अवधि में 17% वृद्धि करना।
- खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना तथा उद्योग एवं निर्यात की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कृषि उत्पादन को बढ़ाना।
- आधारभूत उद्योगों, जैसे-इस्पात, रासायनिक उद्योग, ईंधन व शक्ति का विस्तार करना तथा मशीन निर्माण क्षमता स्थापित करना, जिससे आगामी लगभग 10 वर्षों में देश के स्वयं के साधनों से औद्योगीकरण की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें।
- देश की श्रम शक्ति का अधिकतम उपयोग करना तथा रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना।
- अवसर की समानता (Equality of opportunity) को अधिकाधिक बढ़ाना तथा आय व धन के वितरण की असमानता को कम करना एवं आर्थिक शक्ति का समान वितरण करना।

पुनः तीसरी योजना के अन्तर्गत खाद्य उत्पादन में 6 प्रतिशत औसत वार्षिक वृद्धि तथा औद्योगिक उत्पादन में 14% वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य निर्धारित किया था।

किन्तु योजना अवधि में खाद्यान्न उत्पादन में केवल 2 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि ही हो सकी, योजना के 5 वर्षों में राष्ट्रीय आय की वृद्धि 5.0% प्रतिवर्ष के लक्ष्य की तुलना में 1993-94 की कीमतों पर 2.5% की वार्षिक वृद्धि दर प्राप्त की गई तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि दर 0.2% की ही रही। इस योजना की असफलता का मुख्य कारण 1962 में चीन के साथ तथा 1965 में पाकिस्तान के साथ युद्ध छिड़ना था। 1965-66 में देश में सूखा पड़ा। अतः 1965-66 में तो राष्ट्रीय आय में वृद्धि की अपेक्षा वस्तुतः 4.7% की कमी हुई तृतीय योजना के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र में परिव्यय की प्रस्तावित राशि 7,500 करोड़ रुपए थी, जबकि वास्तविक व्यय 8,577 करोड़ रुपए था। तृतीय पंचवषीय योजना के बाद लगातार तीन वर्ष तक वार्षिक योजनाएं चलती रहीं।

तीन वार्षिक योजनाएँ (1966-67 से 1968-69)

तृतीय पंचवर्षीय योजना 31 मार्च, 1966 को समाप्त हो गई थी। तदनुसार चतुर्थ योजना को 1 अप्रैल 1966 से प्रारम्भ होना चाहिए था। किन्तु तृतीय योजना की दुर्भाग्यपूर्ण असफलता के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था के विभिनन क्षेत्रों में उत्पादन लगभग स्थिर-सा हो गया था। जून 1966 में भारत सरकार द्वारा भारतीय रुपए के अवमूल्यन (Devaluation) की घोषणा की गई ताकि देश के निर्यातों में वृद्धि की जा सके। किन्तु इसके अनुकूल परिणाम प्राप्त नहीं हो सके। अतः चौथी योजना को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया तथा उसके स्थान पर तीन वार्षिक योजनाएँ लागू की गईं। कुछ अर्थशास्त्रियों ने तो 1966 से 1969 तक की अवधि को योजना अवकाश (Plan Holiday) की संज्ञा तक दे दी। क्योंकि इस अवधि में कोई नियमित नियोजन नहीं किया गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1 अप्रैल, 1969 से 31 मार्च, 1974)

चौथी योजना का प्रारम्भ 1 अप्रैल, 1969 को हुआ तथा 31 मार्च, 1974 को यह योजना समाप्त हो गई थी।

चौथी योजना के मूल उद्देश्य थे– स्थिरता के साथ आर्थिक विकास (Growth with Stability) तथा आत्मनिर्भरता की अधिकाधिक प्राप्ति (Progress towards Self Reliance)। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किए गए–

- अर्थव्यवस्था में 5.7% की वार्षिक दर से आर्थिक विकास।

- कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना कृषि उत्पादन में 5% की वार्षिक दर से तथा औद्योगिक उत्पादन में 8% से 10% वार्षिक दर से वृद्धि।
- मूल्य स्तर में स्थायित्व लाने के उद्देश्य से मुद्रा प्रसार सम्बन्धी तत्त्वों को नियन्त्रित करना।
- सामान्य उपभोग की वस्तुओं, जिन पर उपभोक्ता अपनी आय का अधिकांश भाग व्यय करता है, के उत्पादन को प्रोत्साहित करना।
- कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ देश में बफर स्टॉक (Buffer Stock) का निर्माण करना, ताकि कृषि पदार्थों की निरन्तर पूर्ति सुनिश्चित की जा सके तथा मूल्यों को भी स्थिर रखा जा सके।
- जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण लगाने तथा जीवन स्तर में सुधार लाने के लिए परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को लागू करना।
- निर्यात में 7% वृद्धि करना।
- रोजगार के अधिकाधिक अवसरों का सृजन करना।
- पिछड़े क्षेत्रों का अधिकाधिक विकास करना तथा क्षेत्रीय विषमता को दूर करना।
- सार्वजनिक क्षेत्र का विकास करना।
- बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण लगाना।
- समाज में आर्थिक समानता एवं न्याय की स्थापना करना।

चौथी योजना में 1993-94 की कीमतों पर राष्ट्रीय आय में औसत वार्षिक वृद्धि दर 3.8% प्रति व्यक्ति आय की वार्षिक वृद्धि दर 1.5% रही। जोकि लक्ष्य से नीची थी। खाद्यान्नों का औसत वार्षिक उत्पादन केवल 2.7 प्रतिशत की दर से बढ़ा औद्योगिक उत्पादन में औसत वार्षिक वृद्धि पर 4% रही। जो लक्ष्य से बहुत कम थी। थोक मूल्य सूचकांक 1969-70 में (1961-62 = 100) 175.7 था। जो 1973-74 में बढ़कर 283.6 हो गया। अर्थात् चतुर्थ योजनाकाल में कीमतों में वृद्धि लगभग 61% की हुई थी। चौथी योजना के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र में परिव्यय की प्रस्तावित राशि 15,902 करोड़ रुपए थी। जबकि वास्तविक व्यय 15,779 करोड़ रुपए था।

पाँचवी पंचवर्षीय योजना (1 अप्रैल, 1974 से 31 मार्च, 1979)

पाँचवी पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1974 को प्रारम्भ हुई तथा 31 मार्च, 1979 को समाप्त होनी थी। यह योजना जनता सरकार द्वारा एक वर्ष पूर्व ही समाप्त घोषित कर दी गई थी। इस योजना का मुख्य उद्देश्य **'गरीबी का उन्मूलन और आत्मनिर्भरता'** था। इस योजना के महत्त्वपूर्ण तत्त्व निम्नलिखित थे–

- राष्ट्रीय आय में 5.0% (लक्ष्य 5.5%) की सामान्य वार्षिक वृद्धि।
- उत्पादक रोजगार के अवसरों का विस्तार करना।
- न्यूनतम आवश्यकताओं का राष्ट्रीय कार्यक्रम जिसमें प्राथमिक शिक्षा, पीने का पानी, ग्राम क्षेत्रों में चिकित्सा, पौष्टिक भोजन, भूमिहीन श्रमिकों के मकानों के लिए जमीन, ग्रामीण सड़के ग्रमों का विद्युतीकरण एवं गन्दी बस्तियों की उन्नति एवं सफाई सम्मिलित है।
- सामाजिक कल्याण का विस्तृत कार्यक्रम।
- कृषि एवं जनोपयोगी वस्तुओं को उत्पन्न करने वाले उद्योगों पर बल।
- निर्धन वर्गों को उचित एवं स्थिर मूल्यों पर अनिवार्य उपभोग की वस्तुएँ उपलब्ध कराने के लिए पर्याप्त वसूली एवं वितरण प्रणाली।
- निर्यात प्रोत्साहन (Export Promotion) एवं आयात प्रतिस्थापन (Import Substitution) पर बल।
- अनावश्यक उपयोग पर कड़ा प्रतिबन्ध।
- एक न्यायपूर्ण कीमत-मजदूरी नीति।
- सामाजिक, आर्थिक एवं क्षेत्रीय असमानताओं (Regional Inequalities) को कम करने के संस्थानात्मक, राजकोषीय एवं अन्य उपाय।

छठी पंचवर्षीय योजना (1 अप्रैल, 1980 से 31 मार्च, 1985)

जनता सरकार ने पाँचवीं पंचवर्षीय योजना को उसकी अवधि के एक वर्ष पूर्व ही अर्थात् चार बर्षों (1871-78) में ही समाप्त करके 1 अप्रैल, 1978 से एक नई योजना प्रारम्भ कर दी थी। इस योजना को अनवरत योजना (Rolling Plan) का नाम दिया गया। इस अनवरत योजना के प्रथम चरण के रूप में 1 अप्रैल, 1978 से पाँच वर्षों (1978-83) के लिए छठी योजना प्रारम्भ की गई, किन्तु 1980 में जनता सरकार द्वारा तैयार की गई छठी योजना (अनवरत योजना) को समाप्त कर दिया तथा

एक नई छठी योजना प्रारम्भ की जिसकी अवधि 1980-85 रखी गई। इस छठी योजना (1980-85) के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—

- आर्थिक विकास की दर में पर्याप्त वृद्धि, संसाधनों के प्रयोग से सम्बन्धित कार्यकुशलता में सुधार तथा उत्पादकता को बढ़ाना।
- आर्थिक और प्रौद्योगिक आत्म-निर्भरता को प्राप्त करने के लिए आधुनिकीकरण को बढ़ावा देना।
- गरीबी तथा बेरोजगारी की व्यापकता में लगातार कमी।
- ऊर्जा के घरेलू स्त्रोतों का तेजी के साथ विकास तथा ऊर्जा के रक्षण एवं कार्यकुशल उपयोग पर बल देना।
- न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के माध्यम से लोगों के जीवन में गुणात्मक सुधार।
- सार्वजनिक नीतियों और सेवाओं को ऐसा रूप देना जिससे आय और सम्पत्ति की असमानताएँ कम हों।
- विकास की गति और तकनीकी लाभों के प्रसार में क्षेत्रीय असमानताओं में कमी करना।
- जनसंख्या में वृद्धि पर नियन्त्रण के लिए विविध नीतियों को प्रोत्साहन देना।
- विकास के अल्प और दीर्घकालीन लक्ष्यों में समन्वय स्थापित करना और इसके लिए वातावरण सम्बन्धी परिसम्पत्तियों (Ecological and Environmental Assets) को संरक्षण देना तथा उनमें सुधार करना।
- उपयुक्त शिक्षा, संचार और संस्थागत युक्तियों के द्वारा लाभों के सभी वर्गों के विकास की प्रक्रिया में भागीदारी को बढ़ाना।

छठी पंचवर्षीय योजना में 5.2 प्रतिशत वार्षिक विकास की दर प्राप्त करने का लक्ष्य था। किन्तु 1993-94 की कीमतों पर वास्तविक वार्षिक वृद्धि दर 5.4% रही निर्धनता एवं बेरोजगारी के निवारण के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम अपनाए गए खाद्यान्न उत्पादन का लगभग 154 मि. टन का लक्ष्य प्राप्त कर लिया गया। इस योजना में औद्योगिक उत्पादन वृद्धि का लक्ष्य 7 प्रतिशत था। किन्तु वास्तविक वृद्धि 5.4 प्रतिशत की हुई इस योजना में प्रति व्यक्ति आय में वार्षिक वृद्धि लगभग 3.2% हुई। छठी योजना के दौरान सार्वजनिक क्षेत्र में परिव्यय की प्रस्तावित राशि 97,500 करोड़ रुपए थी। किन्तु वास्तविक व्यय 1,09,292 करोड़ रुपए था।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1 अप्रैल, 1985 से 31 मार्च, 1990)

यह योजना 1 अप्रैल, 1985 से प्रारम्भ हो गई थी। इस योजना की अवधि 1 अप्रैल, 1985 से 31 मार्च, 1990 तक रही। सातवीं योजना के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य थे–

- एक स्वतंत्र आत्मनिर्भर अर्थव्यस्था की स्थापना।
- साम्य एवं न्याय पर आधारित सामाजिक प्रणाली की स्थापना।
- सामाजिक एवं आर्थिक असमानताओं को प्रभावी रूप से कम करना।
- देशी तकनीकी विकास के लिए सुदृढ़ आधार तैयार करना।
- 5 प्रतिशत वार्षिक विकास की दर प्राप्त करना।
- उत्पादक रोजगार का सृजन करना।
- कृषि उत्पादन, विशेषतः खाद्यान्नों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि।
- निर्यात संवृद्धि तथा आयात प्रतिस्थापन द्वारा आत्मनिर्भरता को प्रोत्साहन देना।
- ऊर्जा संरक्षण और गैर परम्परागत ऊर्जा स्रोतों का विकास।
- पारिस्थितिकीय एवं पर्यावरणीय संरक्षण।

सातवीं योजना में 5% वार्षिक विकास की दर का लक्ष्य रखा गया था। जबकि योजनाकाल में राष्ट्रीय आय की वास्तविक वार्षिक वृद्धि दर (1993-94 की कीमतों पर) 5.8% की अनुमानित की गई। प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि पर 3.6% की रही कुछ क्षेत्रों में वृद्धि दर लक्ष्य से कुछ कम रहीं, परन्तु मुख्य क्षेत्रों में समग्र वृद्धि दर सन्तोषजनक रही।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1 अप्रैल, 1992 से 31 मार्च, 1997)

आठवीं पंचवर्षीय योजना जो 1 अप्रैल, 1990 को प्रारम्भ होने को थी, केन्द्र में दो वर्षों में राजनीतिक परिवर्तनों के कारण समय पर प्रारम्भ नहीं की जा सकी। राष्ट्रीय विकास परिषद ने योजना के प्रारूप को 23 मई, 1992 को हुई अपनी बैठक में स्वीकृति दे दी थी। यह योजना 1 अप्रैल, 1992 को प्रारम्भ हो गई थी तथा 31 मार्च, 1997 को समाप्त हो गई।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) में वार्षिक विकास दर का लक्ष्य 5.6 प्रतिशत निर्धारित किया गया था। इस योजना में 7,98,000 करोड़ रुपए से कुल परिव्यय का प्रावधान था, जिसमें से 4,34,1000 करोड़ रुपए का परिव्यय सार्वजनिक

क्षेत्र के लिए था। सार्वजनिक क्षेत्र की इस राशि में से 3,61,000 करोड़ रुपए की राशि नए निवेश तथा 73,100 करोड़ रुपए चालू खर्च के लिए रखे गए थे। सार्वजनिक क्षेत्र का वास्तविक परिव्यय 4,95,669 करोड़ रुपए रहा था।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (1 अप्रैल, 1997 से 31 मार्च, 2002)

देश की नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) के संशोधित मसौदे को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने 9 जनवरी, 1999 को अपनी मंजूरी प्रदान कर दी थी।

मूल नौवीं पंचवर्षीय योजना में सकल घरेलू उत्पाद में 7 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य तय किया गया था। 1997-98 (नौवीं योजना का पहला वर्ष) में यह वृद्धि 5.1 प्रतिशत रहने तथा वित्तीय वर्ष 1998-99 में भी इसके 6 प्रतिशत रहने के अनुमान के आधार पर नौवीं पंचवर्षीय योजना में औसत वार्षिक वृद्धि दर का लक्ष्य 7.0 प्रतिशत से घटाकर 6.5 प्रतिशत कर दिया गया था। किन्तु वास्तविक वार्षिक वृद्धि दर योजना में सार्वजनिक क्षेत्र का परिव्यय भी 8,75,000 करोड़ रुपए से घटाकर 1996-97 की कीमतों पर 8,59,200 करोड़ रुपए कर दिया गया था, जिसमें समग्र बजटीय संसाधन एवं घरेलू तथा अतिरिक्त संसाधन क्रमशः 5,18,791 करोड़ रुपए (कुल का 60.4%) तथा 3,40,409 करोड़ रुपए (कुल का 39.6%) अनुमानित किए गए थे। सार्वजनिक क्षेत्र के योजना परिव्यय में केन्द्र का योजना परिव्यय 4,89,361 करोड़ रुपए था। केन्द्र के योजना व्यय (4,89,361 करोड़ रुपए) में केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र उपक्रमों द्वारा विनियोग 66% के स्तर पर नौवीं योजना में प्रक्षेपित किया गया था। योजना के तहत बचत, निवेश, निर्यात एवं आयातों के लक्ष्यों को पूर्व में निर्धारित लक्ष्यों से कुछ कम कर दिया गया। निर्यातों में वास्तविक वृद्धि (मात्रानुसार) का वार्षिक लक्ष्य अब 11.8 प्रतिशत था, जबकि आयातों में यह 10.8 प्रतिशत तक सीमित रखने का लक्ष्य था। आठवीं योजना में निर्यातों व आयातों की वृद्धि दर क्रमशः 11.9 प्रतिशत व 11.7 प्रतिशत रही थी। योजना में औसत राजकोषीय घाटा सकल घरेलू उत्पाद के 5 प्रतिशत पर रखने तथा योजना के अन्तिम वर्ष में इसे 4.1 प्रतिशत के स्तर पर लाने का लक्ष्य था। आठवीं पंचवर्षीय योजना में वृद्धिमान पूँजी उत्पाद अनुपात (Incremental Capital Output Ratio) 3.7 रहा था। जबकि नौवीं योजना में यह 4.53 रहने का लक्ष्य था। सकल घरेलू बचत की दर सकल घरेलू उत्पाद की 23.31% व निवेश की दर सकल घरेलू उत्पाद की 24.23 प्रतिशत संशोधित की गई। इस प्रकार विदेशी सहायता पर

निर्भरता (चालू खाते का घाटा) सकल घरेलू उत्पाद की 0.91 प्रतिशत अनुमानित की गई।

संशोधित नौवीं पंचवर्षीय योजना में सकल घरेलू उत्पाद में 6.5 प्रतिशत की औसत वार्षिक वृद्धि प्राप्त करने के लिए कृषि क्षेत्र में 3.9% खनन में 5.1%, विनिर्माणी क्षेत्र में 7.1%, विद्युत क्षेत्र में 8.4%, निर्माण में 6.8% तथा संचार के क्षेत्र में 11.9% वार्षिक वृद्धि प्राप्त करने का संशोधित लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

नौवीं योजना के अन्तिम वर्ष तक केन्द्र सरकार के कर राजस्व व जी.डी.पी. का अनुपात (Tax-GDP Ratio) 11.5 प्रतिशत निर्धारित किया गया था। इसी के साथ-साथ ब्याज दायित्व व जीडीपी के अनुपात को भी वर्तमान के 5% से घटाकर 3% तक लाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। कर-जीडीपी अनुपात 1997-98 में 10.5% था जो घटकर वित्तीय वर्ष 1998-99 में 9.5% रहा था।

योजना आयोग के अनुसार संशोधित नौवीं योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के कुल 8,59,200 करोड़ रुपए के परिव्यय में केन्द्रीय योजना 4,89,000 करोड़ रुपए की तथा राज्यों एवं केन्द्रशासित क्षेत्रों की योजना 3,70,000 करोड़ रुपए की निर्धारित की थी। योजना के लिए 3,74,000 करोड़ रुपए की बजटीय सहायता के अतिरिक्त सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा आंतरिक स्रोतों से 2,90,000 करोड़ रुपए के संसाधन जुटाए जाने का लक्ष्य था। शेष 1,95,000 करोड़ रुपए राज्यों व केन्द्रशासित क्षेत्रों के जरिए जुटाए जाने का लक्ष्य रखा।

योजना के संशोधित प्रारूप में प्रधानमन्त्री की विशेष कार्ययोजना (Special Action Plan) के लिए 21,946 करोड़ रुपए का प्रावधान किया गया। इसके तहत् पाँच क्षेत्रों–खाद्य एवं कृषि, सूचना प्रौद्योगिकी, भौतिक आधारिक संरचना, जल संसाधन नीति तथा स्वास्थ्य, प्राथमिक शिक्षा, आवास एवं पेयजल पर विशेष ध्यान दिया जाना था।

योजना के प्रारूप के अनुसार इस योजना के अन्त तक देश की कुल जनसंख्या 102.89 करोड़ तथा श्रमशक्ति 42.34 करोड़ अनुमानित है। इनमें से 41.64 करोड़ लोगों को रोजगार उपलब्ध कराने का लक्ष्य निर्धारित किया गया, जबकि लगभग 70 लाख लोग बेरोजगार होंगे।

नौवीं पंचवर्षीय योजना का मुख्य फोकस

'न्यायपूर्ण वितरण एवं समानता के साथ विकास' (Growth with Equity

and Distributive Justice) को नौवीं पंचवर्षीय योजना का मुख्य लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए नौवीं पंचवर्षीय योजना में राज्य नीति के चार महत्त्वपूर्ण आयाम चिह्नित किए गए थे–

(1) **जीवन की गुणवत्ता**–इसके अन्तर्गत निर्धनता उन्मूलन तथा न्यूनतम प्राथमिक सेवाओं को प्रदान करने के लिए ऐसे उपायों को शामिल करना होगा जिनके द्वारा निर्धनों की परिसम्पत्तियों का सृजन किया जा सके तथा निरन्तर विकास हेतु शेष अर्थव्यवस्था के साथ ऐसे क्षेत्रों को बेहतर ढंग से एकीकृत किया जा सके। चूँकि न्यूनतम प्राथमिक सेवाओं (स्वच्छ पेयजल, प्राथमिक स्वास्थ्य तथा सार्वभौमिक शिक्षा तंथा आवास) में निजी क्षेत्र के प्रयासों की सम्भावना दिखाई नहीं देती। अतः इन सेवाओं की उपलब्धता के लिए राज्य की प्रत्यक्ष भागीदार बढ़ाना आवश्यक है इसके साथ-साथ इन क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश को भी प्रोत्साहित किया जाएगा।

(2) **रोजगार संवर्द्धन**–श्रम बहुल क्षेत्रों, उप-क्षेत्रों और प्रौद्योगिकियों पर ध्यान केन्द्रित करके विकास प्रक्रिया के द्वारा ही रोजगार के अतिरिक्त अवसर उत्पन्न करना नौंवी पंचवर्षीय योजना का एक प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किया गया है। नौंवी योजना में राष्ट्रीय रोजगार आश्वासंन योजना (NEAS) को इस प्रकार से कार्यान्वित किया जाएगा कि निर्धनों के लिए रोजगार के अपेक्षाकृत अधिक तथा सुनिश्चित अवसर बढ़ सकें, ताकि वे निर्धनता के मकड़जाल से बाहर आ सकें।

(3) **क्षेत्रीय असन्तुलन**–नौंवी पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में उन राज्यों में अधिक निवेश किया जाएगा जो अपेक्षाकृत कम साधन सम्पन्न हैं। क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर करने के लिए पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगीकरण की प्रक्रिया को तेज करना नौवीं योजना की एक प्राथमिकता है, किन्तु इसके साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि एवं सहायक क्रियाओं का आधुनिकीकरण करना भी योजना में स्वीकार किया गया है।

(4) **आत्मनिर्भरता**–नौवीं योजना में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए प्राथमिकता क्रम में निम्नलिखित क्षेत्रों को चुना गया है–

- भुगतान सन्तुलन सुनिश्चित करना।
- विदेशी ऋण भार को न केवल बढ़ने से रोकना वरन् उसमें कमी भी लाना।
- विवेकपूर्ण वृहद् प्रबन्ध ढाँचे तथा भुगतान सन्तुलन की आवश्यकताओं

के वित्त पोषण हेतु गैर-ऋण विदेशी आय पर निर्भरता को बढ़ाना।
- खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना।
- जड़ी-बूटियों और औषधीय मूल के पेड़-पौधों सहित प्राकृतिक संसाधनों का समुचित उपयोग तथा संरक्षण।
- प्रौद्योगिकीय आत्मनिर्भरता प्राप्त करना।

दसवीं पंचवर्षीय योजना (1 अप्रैल, 2002 से 31 मार्च, 2007)

21 दिसम्बर, 2002 को राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा अनुमोदित दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-07) में 8% की औसत वार्षिक वृद्धि दर की परिकल्पना की गई है। यह ध्यान में रखते हुए कि आर्थिक वृद्धि ही वार्षिक आयोजना का एकमात्र उद्देश्य नहीं है, दसवीं योजना में 8% के वृद्धि लक्ष्य के अतिरिक्त मानव विकास के कुछ मुख्य संकेतकों के लिए अनुवीक्षणीय लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं। इनमें अन्य बातों के साथ-साथ वर्ष 2007 तक गरीबी अनुपात को 6 प्रतिशतांक बिन्दु कम करना योजना अवधि में कम-से-कम श्रमिक बल में वृद्धि करने के लिए लाभकारी रोजगार उपलब्ध कराना। सभी बच्चों को वर्ष 2003 तक विद्यालय भेजना और योजना अवधि के भीतर साक्षरता दर को बढ़ाकर 75% करना शामिल है।

दसवीं योजना के लिए अपनाई गई विकास कार्य नीति में एक सुदृढ़ और गतिमान निजी क्षेत्र के आविर्भाव अवसंरचना के प्रावधान की आवश्यकता और राजकोषीय व मौद्रिक नीतियों में अधिक लचीलापन प्रदान करने की आवश्यकता के संदर्भ में सरकार की भूमिका को पुनः परिभाषित करने की परिकल्पना की गई है। सभी राज्यों के सन्तुलित विकास की महत्ता पर जोर देने के लिए दसवीं योजना में राष्ट्रीय लक्ष्यों के समनुरूप वृद्धि दरों तथा सामाजिक विकास के लक्ष्यों को शामिल करते हुए वृहत् विकासात्मक लक्ष्यों का एक राज्यवार विवरण शामिल किया गया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि अर्थ-व्यवस्था में अनम्यता गरीबी को कम करने वाले संवृद्धि के प्रभावों को कम प्रभावी बना सकती है। दसवीं योजना में साम्यता और सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। साम्यता और सामाजिक न्याय की कार्यप्रणाली में कृषि विकास को योजना का केन्द्रीय तत्त्व बनाना। उन क्षेत्रों की त्वरित वृद्धि को सुनिश्चित करना जिनके द्वारा लाभकारी रोजगार अवसरों का सृजन करने की सर्वाधिक सम्भावना है और लक्ष्य समूहों पर लक्षित विशेष कार्यक्रमों से संवृद्धि के प्रभाव को बढ़ाना शामिल है।

2002-07 की अवधि के लिए 8% की औसत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य व्यवहार्य समझा गया है। क्योंकि सरकारी और निजी दोनों ही क्षेत्रों में कार्यकुशलता में सुधारों को कार्यान्वित करने की गुंजाइश बहुत अधिक है। अर्थव्यवस्था में अप्रयुक्त पड़े भण्डार को उपयोग में लाने के लिए दसवीं योजना में पूर्व में जारी परियोजनाओं को पूरा करने विशेषरूप से उन सरकारी उद्यमों का निजीकरण करने, जो क्षमता से कम कार्य कर रहे हैं और परिसम्पत्तियों आदि के त्वरित हस्तांतरण को व्यवहार्य बनाने के लिए कानूनी और प्रक्रियात्मक परिवर्तन करने पर जोर दिया गया है। दसवीं योजना लक्ष्य की प्राप्ति निर्णायक तौर पर वर्धनात्मक पूँजी उत्पादन अनुपात (ICOR) के कम होने पर निर्भर है जिसके नौवीं योजना में 4.53 से कम होकर दसवीं योजना में 3.58 हो जाने की प्रत्याशा है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए अपेक्षित निवेश सकल घरेलू उत्पाद का 28.4% है जिसमें निवेश दर में आधार वर्ष के 24.4% से तीव्र त्वरण करके उसे अन्तिम वर्ष में 32.3% किया जाना अन्तर्ग्रस्त है। इस प्रकार चालू खाते का घाटा GDP का 1.57% लक्षित है। इस योजना में 7.5 अरब डॉलर प्रतिवर्ष विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) का लक्ष्य है। सार्वजनिक उपक्रमों में विनिवेश के जरिए 78,000 करोड़ रुपए जुटाने का लक्ष्य इसमें निर्धारित किया गया है। योजना में विद्युत की कुल 41,110 मेगावाट अतिरिक्त क्षमता के सृजन की बात कही गई है। इसमें से 25,417 मेगावाट ताप (Thermal) विद्युत् की 14,393 मेगावाट क्षमता जल विद्युत् की तथा शेष 1,300 मेगावाट क्षमता परमाणु ऊर्जा से सृजित की जाएगी। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आर्थिक सुधारों की गति तेज करने तथा कठोर निर्णय की आवश्यकता पर योजना में बल दिया है। इसके लिए अभी तक अपेक्षित रहे चार मुद्दों पर बल देते हुए राष्ट्रीय विकास परिषद् की चार उपसमितियों के गठन की घोषणा भी की गई है। यह उपसमितियाँ गवर्नेंस सुधार (Governance Reforms) देश में आन्तरिक व्यापार की बाधाओं को दूर करने (Removing barriers in Internal Trade) निवेशकों के लिए उचित माहौल स्थापित करने (Creating an Investor Friendly Climate) तथा वित्तीय एवं प्रशासकीय क्षमताओं की दृष्टि से पंचायतों को सुदृढ़ बनाने (Empowerment of Panchayats) से सम्बन्धित होंगी। आन्तरिक व्यापार सम्बन्धी उपसमिति की अध्यक्षता प्रधानमन्त्री स्वयं करेंगे, जबकि निवेश-मित्र माहौल (Investor Friendly Climate) के लिए उपसमिति वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्री तथा पंचायती राज संस्थाओं (PRIs) के लिए उपसमिति ग्रामीण विकास मन्त्री की अध्यक्षता में होगी।

दसवीं पंचवर्षीय योजना के लिए परिकल्पित कुल परिव्यय वर्ष 2001-02 की कीमतों पर 19,68,815 करोड़ रुपए हैं जिसमें केन्द्रीय योजना के लिए 7,06,000 करोड़ रुपए राज्यों की योजनाओं के लिए 5,88,325 करोड़ रुपए और सरकारी क्षेत्र के उद्यमों के लिए 6,74,790 करोड़ रुपए का परिव्यय शामिल है। इस परिव्यय के लिए 9,94,060 करोड़ रुपए की बजटीय सहायता परि-कल्पित की गई है।

दसवीं पंचवर्षीय योजना में परिकल्पित केन्द्रीय सरकार का कुल औसत व्यय GDP का 15.6% है जिसमें योजना भिन्न व्यय का 10.7% और योजना को बजटीय सहायता का 4.9% शामिल है। सकल कर राजस्व GDP का 9.4 परिकल्पित किया गया है। राजकोषीय और राजस्व घाटे GDP के क्रमशः 4.7% और 2.9% होने का अनुमान लगाया गया है। दसवीं पंचवर्षीय योजना में सुझाव दिया गया है कि सरक़ारी वित्त पोषण के सम्बन्ध में नीति सम्बन्धी पहले सभी तीन स्तरों पर की जानी चाहिए केन्द्रीय स्तर पर, राज्य स्तर पर और कुछ नीतियाँ केन्द्रीय और राज्य दोनों स्तरों पर केन्द्रीय स्तर पर। साथ ही आयकर प्रशासन का बेहतर प्रवर्तन, निगम कर के तहत् छूटों की समाप्ति, सेवा कर के क्षेत्र में विस्तार, एकल उत्पाद कर दर अपनाने की चालू नीति को जारी रखना, व्यय सुधार आयोग की सिफारिशों का कार्यान्वयन, खाद्य सम्बन्धी आर्थिक सहायता का बेहतर लक्ष्यीकरण, केन्द्रीय सरकार के वेतन बिल में कटौती करना, कर्मचारियों की संख्या में कमी करना। उधारों को सीमित करना आदि, राज्य स्तर पर मूल्यवर्धित कर को आरम्भ करने, प्रयोक्ता प्रभारों को बढ़ाने और कर GDP अनुपात में सुधार करने के सुझाव दिए गए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पंचवर्षीय योजना के द्वारा देश में सामाजिक-आर्थिक विकास या परिवर्तन की दिशा में बहुत कुछ किया गया है और किया भी जा रहा है। **पंचवर्षीय योजनाओं में पाँच दशकों की लम्बी दूरी पार की है और भारत को हर क्षेत्र में मजबूत बनाया है। फिर भी पंचवर्षीय योजनाओं का अनुभव अच्छा तथा बुरा दोनों प्रकार का रहा है। जहाँ कृषि के क्षेत्र में इसे महत्त्वपूर्ण सफलता मिली है वहीं रोजगार के अवसर बढ़ाने में पंचवर्षीय योजनाओं को कोई खास सफलता नहीं मिली है। लघु उद्योगों को भी भारी झटका लगा है, शिक्षा और स्वास्थ्य के विकास में भी भारी असमानता है।** यद्यपि साक्षरता के क्षेत्र में बड़ी उपलब्धि प्राप्त हुई है। महिलाओं की साक्षरता दर में पिछले वर्षों की तुलना में काफी सुधार आया है। जहाँ 1991

में महिलाओं की साक्षता 39 प्रतिशत थी वहाँ 2001 में यह बढ़कर 54 प्रतिशत हो गई। परन्तु आज भी भारत में 19.3 करोड़ महिलाएँ निरक्षर हैं। राष्ट्रीय नीति के तहत महिलाओं का कल्याण तथा विकास और अब उनका सशक्तीकरण भी हो रहा है।

समाज के उपेक्षित वर्गों को सामाजिक न्याय प्रदान करने की दिशा में कदम काफी आगे बढ़े हैं। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्ग तथा अल्पसंख्यकों के लिए बहुत से कल्याणकारी कार्यक्रम शुरू किए गए हैं। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अल्पसंख्यक समुदायों के योग्य पात्रों को वित्तीय अनुदान प्रदान करता है। जिससे वे अपना स्वरोजगार शुरू कर सकें। यह परिवर्तन उनकी आर्थिक स्थिति में ही नहीं अपितु उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में भी दिखाई दे रहे हैं। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि राज्य सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में कार्य करता है।

4

विधान और लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण
(Legislations and Democratic Decentralization)

हाल ही में उच्चतम न्यायालय द्वारा केन्द्रीय सरकार को पूरे देश में 'समान नागरिक संहिता' लागू करने की दिशा में पहल करने का निर्देश देने के बाद भारत के सन्दर्भ में सामाजिक परिवर्तन एवं विधान के अन्तःसम्बन्धों का मामला एक बार फिर प्रासंसिक हो गया है। लेकिन इस मुद्दे पर कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका के परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों की वजह से यह प्रश्न और भी जटिल हो गया है। यदि इस सन्दर्भ को आधुनिक काल तक सीमित करके रखें तो हम पाएँगे कि सामाजिक परिवर्तन में विधानों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जबकि सामाजिक परिवर्तनों में विधानों को बहुत कम प्रभावित किया है। इसका प्रमाण यह 'नागरिक संहिता' ही है जिसके लिए संवैधानिक प्रावधान होते हुए भी लगभग 50 वर्षों के बाद तक भी इस दिशा में कोई प्रयास नहीं किया गया।

विधि और विधान की व्याख्या
(Interpretation of Law and Legislation)

कानून की परिभाषा सामान्यतः इस रूप में दी जाती है कि सरकार द्वारा निश्चित सिद्धान्तों एवं विनियमों की व्यवस्था करना और उनको जनता पर लागू करना। इसका स्वरूप विधेयक अधिनियम भी हो सकता है और रीति या रिवाज भी जो कि न्यायिक निर्णयों के द्वारा लागू किया जाता है। इसके अन्तर्गत वे सारे लिखित, व्यवस्थित, एवं संग्रहित नियम व सिद्धान्त आते हैं जो किसी राज्य या

राष्ट्र के प्राधिकार द्वारा जारी किए जाते हैं, अथवा जनता स्वयं संविधान के द्वारा उन्हें अपने ऊपर लागू करती है, जैसा कि भारत में होता है।

कानून की परिभाषा देते हुए **मैकाइवर** ने लिखा है कि, *"कानून नियमों की वह व्यवस्था है जिन्हें राज्य के न्यायालयों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है, न्यायालयों द्वारा इनकी विवेचना होती है और किसी विशेष परिस्थिति के अनुसार ही उन्हें लागू किया जाता है।"*

डॉ. मुकर्जी के शब्दों में, *"सामाजिक विधान राज्य द्वारा पास किए गए वे कानून या अधिनियम हैं जो सामाजिक कुरीतियों को दूर करने, सामाजिक विघटन को रोकने तथा समाज-सुधार व परिवर्तन के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के उद्देश्य से बनाए जाते हैं।"*

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि कानून बाह्य मानव-व्यवहार को नियन्त्रित व नियमित करने के वे नियम हैं, जिन्हें प्रतिपादित करने, लागू करने तथा जिनका उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने का उत्तरदायित्व एक प्रभुतासम्पन्न राजनीतिक शक्ति या सत्ता पर हो।

विधि के स्त्रोत
(Sources of Law)

भारत में विधि के मुख्य स्रोत हैं–संविधान, संविधि (विधानमण्डलों द्वारा) परंपरागत विधि और न्यायालयों के निर्णयों पर आधारित कानून। देश की संसद, राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों के विधानमण्डल, संविधि (कानून) बनाते हैं। इनके अतिरिक्त, केन्द्र सरकार, राज्य की सरकारें, नगर निगम, नगरपालिकाएँ, ग्राम पंचायतें और अन्य स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ, नियम, उप-नियम और केन्द्र शासित प्रदेशों के विधान मण्डलों द्वारा हस्तान्तरित या प्रदत्त अधिकारों के अधीन इस प्रकार के अधीनस्थ विधान बनाए जाते हैं।

उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के निर्णय भी विधि के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। उच्चतम न्यायालय के निर्णय देश के सभी न्यायालयों को मानने पड़ते हैं। न्यायालय न्याय करते समय कुछ क्षेत्रों में ऐसी स्थानीय परम्पराओं और रीति-रिवाजों का भी ख्याल रखते हैं, और उन्हें मान्यता प्रदान करते हैं, जो कानून और नैतिकता आदि विरुद्ध नहीं हैं। इसके स्पष्ट है कि न्यायालयों द्वारा कानूनों की व्याख्या की जाती है तथा प्रशासनिक संस्थाओं जैसे पुलिस आदि द्वारा इन्हें क्रियान्वित किया जाता है। दण्ड देने की प्रकृति तथा उसे देने की प्रक्रिया आदि सभी बातों का उल्लेख कानून की किताबों में होता है।

फौजदारी और दीवानी मामले
(Criminal and Civil Malters)

कानून दो प्रकार के होते हैं—फौजदारी कानून और दीवानी कानून। निम्नलिखित विश्लेषण से फौजदारी और दीवानी मामलों की प्रकृति को आसानी से समझा जा सकता है—

(1) फौजदारी या आपराधिक (Criminal) माम्ले—जब कोई अपराध होता है तो नुकसान झेलने वाला व्यक्ति अथवा पुलिस दण्ड न्यायालय (criminal court) में मामला दर्ज करती है ताकि अपराधी को दण्ड मिले। जान-बूझकर, अनजाने में अथवा किसी की धमकी में किए गए अपराध दण्डनीय हैं। कुछ आम अपराध हैं—विद्रोह, अपमान/बदनामी करना, चोरी/डकैती/घर में सेंध लगाना, मार-पीट करना, इतनी चोट पहुँचाना कि मौत हो जाए, धोखाधड़ी/जालसाजी/बेईमानी, दूसरे की संपत्ति में अनधिकृत प्रवेश या उस पर कब्जा, किसी से जबरन कोई चीज छीन लेना, बदमाशी, दूसरों का आना- जाना रोकना, गैर-कानूनी कामों अथवा आत्महत्या के लिए किसी को उकसाना, व्यभिचार, अव्यवस्था पैदा करना/गलत उद्देश्यों से एकजुट होना, जाली मुद्रा चलाना/माप-तौल के गलत उपकरणों का इस्तेमाल, अदालत की अवमानना (contempt) शपथ लेकर झूठी गवाही देना/सरकारी अधिकारी को झूठी जानकारी देना, रिश्वत लेना या देना, किसी धर्म का अपमान या किसी धर्म को मानने वालों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाना आदि। ये सारे मामले आपराधिक या दण्ड न्यायालयों द्वारा सुने जाते हैं।

कुछ अपराध संज्ञेय (cognizable) माने जाते हैं अर्थात् इनमें पुलिस अभियुक्त को मजिस्ट्रेट के वारंट के बिना गिरफ्तार कर सकती है। ऐसे कुछ अपराध हैं—डकैती/चोरी, घायल कर देना/हत्या, दंगा करना/गैर-कानूनी तरीके से जमा होना। असंज्ञेय (non-cognizable) अपराधों के मामलों में अभियुक्तों को गिरफ्तार करने के लिए पुलिस को मजिस्ट्रेट से वारंट प्राप्त करना जरूरी है। ऐसे कुछ अपराध हैं—मामूली मार-पीट, जालसाजी, राजद्रोह (sedition) आदि। विभिन्न अपराधों की सजा भारतीय दण्ड संहिता में बताई गई है। इस संहिता (Indian Penal Code) में शामिल नहीं किए गए अनेक विशेष कानून भी हैं जिनके तहत सजा दी जा सकती है। अभियुक्त पर मुकदमा चलाने के तरीके दण्ड प्रक्रिया संहिता (Criminal Procedure Code) में बताए गए हैं।

(2) दीवानी (Civil) मामले—फौजदारी मामलों में शिकायतकर्त्ता का

उद्देश्य अपराधी को सजा दिलाना होता है, जबकि दीवानी मामलों में इसका उद्देश्य दूसरे व्यक्ति से अपना दावा हासिल करना होता है, जैसे सम्पत्ति सम्बन्धी मामले आदि दीवानी कानूनों के अन्तर्गत एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अपने प्रति दायित्व की पूर्ति चाहता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति से कोई गलती या नुकसान होने की दशा में दूसरा व्यक्ति उस नुकसान की भरपाई चाहता है। दीवानी अदालतें इन विवादों का निपटान करती है। दीवानी अदालते सिविल प्रक्रिया संहिता तथा उच्च न्यायालयों द्वारा तय प्रक्रिया के अनुरूप ही दीवानी मामलों की सुनवाई करती है। दीवानी कानून सामाजिक जीवन की प्रकृति से सम्बन्धित, होने के कारण कई प्रकार के होते हैं। जैसे—व्यावसायिक, संवैधानिक तथा पारिवारिक कानून।

सामाजिक परम्पराएँ कालान्तर में अनेक सामाजिक कुप्रथाओं को जन्म देती हैं। इन कुप्रथाओं का सामाजिक प्रगति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सामाजिक परिवर्तन या प्रगति के मार्ग में इस प्रकार आई बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य अधिनियमों को पारित करती है, जिससे सामाजिक परिवर्तन को गति मिलती है। भारत में भी ऐसे सामाजिक अधिनियमों द्वारा समाज की कुरीतियों और रूढ़ियों को दूर किया गया है। हिन्दू विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार दिया जाना, बाल-विवाह रोका जाना; सती प्रथा की समाप्ति, अन्तर्जातीय विवाह, तथा विवाह विच्छेद की अनुमति दिया जाना ऐसे सामाजिक अधिनियमों के प्रमाण हैं। सामाजिक विधान शब्द का प्रयोग इन विधानों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। यह सामाजिक विधान समाज के महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अतः ये विधान सामाजिक परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं।

विधि और सामाजिक परिवर्तन
(Law and Social Change)

ब्रिटिश शासन प्रणाली में भारतीय जीवन के हर क्षेत्र को सामाजिक व्यवस्था से लेकर राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समीकरणों तक को विभिन्न नए प्रयोगों द्वारा बहुत प्रभावित किया। नए प्रशासन, नए विधान, व्यापार के नए रूप, संचार व्यवस्था में क्रान्ति कृषि का वाणिज्यीकरण, औद्योगीकरण, नगरीकरण आदि के द्वारा भारतीय समाज का विकास हुआ। भारत में सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलनों, शैक्षिक गतिविधियों एवं मिशनरियों ने भी कई तरह के सामाजिक परिवर्तनों को अंजाम दिया। सारे सुधार आन्दोलनों की माँग कहीं न कहीं वर्तमान विधानों में परिवर्तन की माँग तक पहुँचती है और नए विधानों के निर्माण की माँग

भी करती है। इन कारणों से भारत के सामाजिक परिवर्तन में ब्रिटिश राज के द्वारा बनाए गए विधानों की ऐतिहासिक भूमिका है। इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं। जहाँ समाज में परिवर्तन के लिए कानूनों का प्रयोग किया गया है। अपेक्षित उद्देश्यों के लिए कानूनों का निर्माण किया जाता है। सामाजिक परिवर्तन में कानूनों और अधिनियमों का प्रयोग आज के समाज की सामान्य प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति आज विश्व के लगभग सभी विकसित और विकासशील समाजों में देखी जा सकती है।

देश में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद बड़े-बड़े उद्योग धन्धों के पनपने के साथ-साथ देश में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास हुआ। इस नई अर्थ व्यवस्था ने एक ऐसी नई वर्ग व्यवस्था को जन्म दिया जिसके अन्तर्गत श्रमिक वर्ग और पूँजीपति वर्ग जैसे दो महान वर्गों का उदय हुआ। पूँजीपति वर्ग शोषक का प्रतीक बना और श्रमिक वर्ग शोषित वर्ग के रूप में उभरा। श्रमिक और पूँजीपति वर्गों में अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए टकराव प्रारम्भ हुआ। यह वर्ग संघर्ष भारतीय सामाजिक जीवन का अब एक स्थायी अंग बन गया है। ये सभी बहुत ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हैं और इनका आधार सामाजिक-आर्थिक ही है। पश्चिमी पूँजीवादी समाज में होने वाले परिवर्तन और सोवियत संघ जैसे समाजों का उदय कानूनों के माध्यम से ही हुआ।

कानून एवं सामाजिक परिवर्तन की अन्तःसम्बन्धता का सिद्धान्त उदारवादी समाजवाद एवं कल्याणकारी राज्य के दर्शन के उदय के बाद सामने आया। ब्रिटिश राज्य की स्थापना के बाद सामाजिक परिवर्तन में कानूनों एवं विधानों की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो गई। कुछ कानूनों में तो यह कार्य प्रत्यक्ष रूप से किया लेकिन कुछ विधानों ने अप्रत्यक्ष रूप से दीर्घावधि में सामाजिक परिवर्तनों को अंजाम दिया। बहु-विवाद पर रोक लगाने वाला कानून सामाजिक परिवर्तन को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करने का उदाहरण है। यह लोगों के व्यवहार के तरीकों में बदलाव लाता है, जबकि विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के गठन में कानून अप्रत्यक्ष रूप से समाज पर प्रभाव डालता है। अनिवार्य शिक्षा जैसा अभियान शैक्षिक संस्थाओं द्वारा प्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाला कार्य है। ब्रिटिश कानून की भारत को जो सबसे बड़ी देन रही है, वह यह है कि कानून के सम्मुख सबकी समान स्थिति है—चाहे वह किसी जाति या धर्म का हो। ग्रामीण एवं सुदूर क्षेत्रों में अभी भी न्यायिक स्वायत्तता जारी है और जातीय विशेषाधिकार पंचायतों द्वारा सुरक्षित रखे जाते हैं। आज ऐसी जाति पंचायतें अस्तित्व में ही नहीं अपितु सक्रिय भी हैं।

अप्रत्यक्ष रूप से जिन ब्रिटिश विधानों ने भारत में सामाजिक परिवर्तन किए हैं, इनमें भू-सम्बन्धी बन्दोबस्त प्रमुख हैं। 1793 ई के स्थायी बन्दोबस्त ने बंगाल में नए जमीदार वर्ग को जन्म दिया, कृषि सम्बन्धों में कई परिवर्तन आए और ग्रामीण समाज की एक तरह से पुनः संरचना हो गई। इन बन्दोबस्तों से और जनजातीय क्षेत्रों में हस्तक्षेप से भारतीय समाज में नई कर प्रणाली के कारण साहूकारों के एक प्रभावी वर्ग ने जन्म लिया जिससे सामाजिक सम्बन्धों में कई प्रकार के तनाव दिखने लगे। अंग्रेजों की फूट डालो की नीति के अन्तर्गत हिन्दू मुस्लिम हितों के परस्पर विरोधी होने की बात जो उस अवधि में भर दी गई थी, वह भारतीय समाज के लिए एक तनाव पैदा करने वाली शक्ति बन गई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान की व्यवस्थाओं, अधिनियमों, न्यायालयीय निर्णयों ने भी सामाजिक परिवर्तन की कई नई दिशाएँ खोलीं। भारतीय संविधान की व्यवस्थाओं ने कई दूरगामी सामाजिक परिवर्तन किए हैं। छुआ-छूत जैसे गम्भीर अपराध को लगभग अस्तित्वहीन कर दिया है। दलितों-पिछड़ों एवं अन्य शोषितों के लिए आरक्षण की व्यवस्था से भी सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक नई पहल हुई है।

भारत में कानून व्यवस्था
(Law and Order in India)

हिन्दू संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। कोई भी समाज या सभ्यता बिना कानूनों के अस्तित्त्व में नहीं रह सकती प्राचीन भारतीय वैदिक सभ्यता में भी इसके साक्ष्य मिलते हैं। भारत में समय-समय पर आक्रमणकारी के रूप में अनेक विदेशी आए। कई विदेशी समूहों की संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति में इतनी घुल-मल गईं कि उनका पूर्ण सात्मीकरण हो गया। इसी कारण भारत एक बहुधर्मी देश कहलाता है। यहाँ विभिन्न धार्मिक संस्थाओं में अपने धार्मिक विश्वासों व आस्थाओं को संरक्षण देने के लिए अपने-अपने धार्मिक कानून और संहिता बनाई हुई है। भारतीय संविधान में 'पर्सनल लॉ' शीर्षक के अन्तर्गत विभिन्न समुदायों के धार्मिक कानूनों को पूरा सम्मान दिया गया है। 'पर्सनल लॉ' में धार्मिक नियमों की विधि, रीति-रिवाजों और परिवार से सम्बन्धित व्यवहारों जैसे विवाह व उत्तराधिकार विशेषकर धार्मिक अल्पसंख्यकों के धार्मिक कानूनों को वर्णित किया गया है। भारतीय संविधान धार्मिक अनेकत्व की व्याख्या नहीं करता है। अपितु 'धर्मनिरपेक्षता' पर अधिक बल देता है। कुल मिलाकर यदि प्राचीन एवं मध्यकालीन विधानों को देखें

तो पता चलता है कि वे विधान परम्परागत रिवाजों एवं व्यवहारों के संहिताबद्ध रूप में अधिक हैं, सामाजिक परिवर्तन के साधन कम।

भारतीय समाज सुधारकों के आग्रह पर भी अंग्रेजों ने कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाए—विशेषकर स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में, जैसे 1829 में **सतीप्रथा** अवैध घोषित कर दी ग़ई और इसे सख्ती से लागू किया गया। ये बात अलग है कि आज भी कभी-कभार **सती प्रथा** का उदाहरण सामने आ जाता है। इसी प्रकार 1804 में सरकार ने लड़कियों की **शिशु हत्या** को निषेध करा दिया था। फिर भी समाज में **कन्या भ्रूण-हत्या** एक आम बात है। यद्यपि कानून में यह कृत्य अपराध माना गया है। 1856 में **विधवा पुनर्विवाह अधिनियम** के द्वारा विधवा विवाह की वैध घोषित कर दिया गया। परिणामस्वरूप बंगाल में बड़े पैमाने पर विधवा विवाह आयोजित हुए। इसी प्रकार बाल विवाह को रोकने के लिए **शारदा एक्ट** के अन्तर्गत आयु सीमा में कई बार संशोधन किया गया। इसमें 1978 में किए गए संशोधन के अनुसार विवाह के लिए लड़की की उम्र 18 वर्ष तथा लड़के की उम्र 21 वर्ष होनी चाहिए।

अन्य सामाजिक सुधारों में 1843 में **दास प्रथा** की समाप्ति, **ठगी समाप्ति** आदि प्रमुख हैं। जिनके लिए ब्रिटिश शासन ने कई वैधानिक प्रयास किए। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के अधिनियमों द्वारा फैक्ट्री, शिक्षा, ट्रेड यूनियन, सिंचाई, भूमि सुधार आदि से सम्वन्धित कानूनों के द्वारा भी विभिन्न वर्गों में उपेक्षित परिवर्तन लाए गए। दहेज विरोधी अधिनियम, बाल श्रम उन्मूलन, अधिनियम आदि के द्वारा भी अपेक्षित सामाजिक सुधारों को अंजाम दिया गया।

निश्चित रूप से सामाजिक मुद्दों में विधिक हस्तक्षेप की अनिवार्यता से किसी का विरोध नहीं हो सकता मनुष्य प्रारम्भ से ही अपने नियमन के लिए स्वयं ही विधानों का निर्माण करता रहा है। सामाजिक परिवर्तन एवं विधि की अन्तःसम्बन्धता के बीच एक योजक कड़ी होती है—विधि को लागू करने वाली संस्था कार्यपालिका।

स्वतंत्र भारत में सामाजिक विधान
(Social Legislation in Independent India)

स्वतंत्र भारत में सामाजिक परिवर्तन का अत्यधिक महत्त्व है। आधुनिक युग की पृष्ठभूमि में भारत में सामाजिक कुरीतियों का साम्राज्य रहा है। भारत की प्रमुख समस्याओं और कुरीतियों में बाल-विवाह, विधवा, विवाह पर रोक, विवाह-विच्छेद का अधिकार न होना, अन्तर्जातीय पर प्रतिबन्ध, बहुपत्नी विवाह, दहेज-प्रथा, स्त्रियों

का पिता की संपत्ति पर अधिकार न होना, अस्पृश्यता आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन समस्याओं का निराकरण सामाजिक प्रगति के लिए बहुत आवश्यक था। इसलिए स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय सरकार को इस दिशा में क्रियात्मक कदम उठाना पड़ा। क्रियात्मक कदम की अभिव्यक्ति ही सामाजिक विधान है। अतः स्पष्ट है कि केवल सामाजिक सुधार ही नहीं अपितु सामाजिक परिवर्तन या प्रगति की दृष्टि से भी स्वतन्त्र भारत में सामाजिक विधानों का असाधारण महत्त्व है। स्वतंत्रता के बाद बनाए गए सामाजिक विधानों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सभी की चर्या करना यहां सम्भव नहीं है। इसलिए हम यहाँ कुछ प्रमुख सामाजिक विधानों (कानूनों) की संक्षेप में विवेचना करेंगे–

(1) **छुआछूत अपराध अधिनियम, 1955**–भारत में सामाजिक अस्पृश्यता निवारण के लिए सन् 1955 में यह अधिनियम पास हुआ। इसके अनुसार जाति के आधार पर छुआछूत का आचरण दण्डनीय है। इस कानून को बाद में संशोधित करके 'नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1975' की संज्ञा दी गई। इस अधिनियम के अनुसार अछूत माने जाने वाला सभी धार्मिक व सार्वजनिक स्थानों पर बिना किसी रोक-टोक के आ-जा सकता है। अधिनियम तो बन गया है परन्तु जाति प्रथा के रूप में अभी भी छुआछूत विद्यमान है।

(2) **विशेष विवाह अधिनियम, 1954–हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956, तथा दहेज विरोधी अधिनियम, 1961**–ये अधिनियम महिला तथा बच्चों के विकास के लिए बनाए गए। इन अधिनियमों के परिणामस्वरूप समाज में महिलाओं तथा बच्चों की हालत में काफी सुधार हुआ है। ये हिन्दू समाज की आधारभूत संरचना में बदलाव के उपकरण हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 को 1976 में पुनः संशोधित करके सशक्त बनाया गया। जिसमें 'एक विवाह' पर जोर देने के साथ-साथ हिन्दुओं को तलाक का अधिकार भी मिला। इसी प्रकार दहेज विरोधी अधिनियम 1961 को भी 1984 में संशोधित किया गया। जिससे महिलाओं के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार को भी संज्ञेय अपराध की श्रेणी में लाया गया। महिलाओं की दशा सुधारने और उनके लिए अनुकूल माहौल का निर्माण करने की दिशा में ये कानून काफी प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं।

(3) **पारिवारिक न्यायालय अधिनियम, 1984**–इस अधिनियम का उद्देश्य विवाह, परिवार और इनसे सम्बद्ध विवाह सुलह समझौते द्वारा जल्दी निपटाना है। इस अधिनियम के अनुसार 10 लाख से अधिक आबादी वाले नगरों में पारिवारिक न्यायालय स्थापित किए जाते हैं।

(4) **बाल मजदूरी (रोक एवं व्यवस्थापन) अधिनियम, 1986**—इस अधिनियम के अनुसार जोखिम वाले व्यवसायों में बच्चों के काम करने की मनाई के अलावा कुछ अन्य क्षेत्रों को उनको काम देने से सम्बन्धित नियम बनाए गए हैं। 14 वर्ष की आयु से कम बच्चों से खतरनाक और जोखिम भरे कारखानों में काम लेना अपराध है।

(5) **ठेका मजदूर (विनियमन और उन्मूलन) अधिनियम, 1970**—इस अधिनियम का उद्देश्य कुछ खास प्रतिष्ठानों में ठेका श्रमिकों के काम पर रखने को विनियमित करना और कुछ परिस्थितियों तथा उनसे सम्बन्धित मामलों में इसका उन्मूलन करना है।

(6) **प्रसूति लाभ अधिनियम, 1961 और समान मजदूरी अधिनियम, 1976**—ये दोनों महिला मजदूरों के हितों की सुरक्षा के लिए संरक्षणात्मक तथा शोषण निवारक कानून हैं। समान मजदूरी अधिनियम के अन्तर्गत एक ही तरह के काम के लिए पुरुष तथा महिलाा श्रमिकों को एक समान मजदूरी देने की व्यवस्था है।

(7) **बंधवा मजदूरी प्रथा/उन्मूलन अधिनियम, 1976**—इस अधिनियम में किसी व्यक्ति को बंधवा मजदूरी करने के लिए मजबूर करने वाले या इसके लिए कर्ज देने वाले को 3 साल की कैद और 2,000 रु. तक के जुर्मने की व्यवस्था की गई है। छुड़ाए गए बंधवा मजदूरों के पुनर्वास के लिए राज्य सरकारों की मदद देनी होती है।

(8) **विक्लांग व्यक्ति (समान अवसर अधिकारों की रक्षा तथा पूर्ण सहभागिता)—अधिनियम, 1996**—इस कानून के तहत केन्द्र और राज्य स्तर पर विक्लांगों के पुनर्वास को बढ़ावा देने वाले कार्यक्रम जैसे—शिक्षा, रोजगार और व्यावसायिक प्रशिक्षण, बाधा रहित परिवेश का निर्माण, विक्लांगों के लिए पुनर्वास सेवाओं का प्रावधान संस्थागत सेवाएँ और बेरोजगार भत्ता तथा शिकायतों का निदान जैसे सहायक सामाजिक सुरक्षा के उपाय करना आदि वातों पर ध्यान दिया जाता है।

(10) **किशोर, न्यायिक (बच्चों की सुरक्षा और देखभाल) अधिनियम, 2000**—यह अधिनियम 1986 के विधान का संशोधित रूप है। इसके अन्तर्गत कानूनी शिकंजे में फँसने वाले किशोरों और उन बच्चों को सुरक्षा दी जाती है। कानूनी चंगुल में फँसने वाले किशोरों और निरीक्षण ग्रहों की स्थापना के लिए सम्बन्धित मंत्रालय राज्य सरकारें सहायता प्रदान करती हैं।

(11) **स्त्री तथा कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम,**

1956—इस अधिनियम को 1986 में संशोधित किया गया और यह संशोधित कानून 'वेश्यावृत्ति' (निरोधक) अधिनियम, 1986 कहलाता है। नए कानून में वेश्यावृत्ति की परिभाषा भी बदल गई है ताकि पुरुष खासकर बच्चों को देह व्यापार में आने से रोका जा सके। कानून में कड़ी सजा की व्यवस्था की गई ताकि युवा, छोटे बच्चों और महिलाओं के शोषण पर रोक लगाई जा सके।

सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय समाज के कमजोर और सामाजिक आर्थिक रूप से वंचित वर्गों को अधिकार दिलाने का कार्य करता है। यह कार्य केन्द्र और राज्य सरकार दोनों ही स्तरों पर होता है। 65वें संविधान संशोधन अधिनियम (1990) के अन्तर्गत अनुच्छेद 338 के तहत नियुक्त किए जाने वाले विशेष अधिकारी के स्थान पर राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग बनाया गया है। आयोग के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) संविधान अथवा किसी अन्य कानून के तहत अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजातियों के लोगों की सुरक्षा सम्बन्धी, जाँच तथा निगरानी करना, (ii) अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लोगों को उनके अधिकारों तथा सुरक्षा के उपायों से वंचित किए जाने की विशिष्ट शिकायतों की जाँच करना, (iii) इस लोगों के सामाजिक और आर्थिक विकास की योजनाएँ बनाने में सहयोग और सलाह देना आदि कार्य करना है। इन संवैधानिक उपायों के कारण अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति की सामाजिक आर्थिक स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

भारत के संविधान की छठी अनुसूची के अधीन असम, मेघालय, त्रिपुरा तथा मिजोरम की जनजातियों को मिलने वाले सुरक्षात्मक उपायों को प्रशासन ने हर सम्भव तरीके से उपलब्ध कराया है। अनुसूची 371क के अन्तर्गत नागालैण्ड में रहने वाले नागाओं की सांस्कृतिक पहिचान की सुरक्षा के लिए विशेष प्रावधान बनाए हैं। इन प्रावधानों के अन्तर्गत 'डिस्ट्रिक्ट कौन्सिलों' को जनजातियों की भूमि पर नियंत्रण रखने के अधिकार दिए गए हैं। 'भूमि हस्तांतरण अधिनियम, 1971' द्वारा मेघालय में भूमि हस्तांतरण पर रोक लगा दी गई है। इसी प्रकार, *'लुसाई हिल्स डिस्ट्रिक्ट'* ने मिजो के लोगों को चीफ की वर्षों पुरानी व्यवस्था को जड़ से खत्म कर दिया है, जिसकी माँग वहाँ के लोगों की थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत जैसे लोकतान्त्रिक राज्य में विधानों, कानूनों और अधिनियमों के प्रभावशाली ढंग से प्रयोग करने पर समाज में समुचित सामाजिक परिवर्तन लाया जा सकता है।

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण
(Democratic Decentralization)

भारत में लोकतान्त्रिक व्यवस्था, समता, समानतावाद, समाजवाद तथा धर्मनिरपेक्षता के आधारभूत सिद्धान्तों पर आधारित है। भारत के संविधान में इस बात का समुचित प्रावधान किया गया है कि इन सिद्धान्तों का हर सम्भव तरीके से अनुपालन हो। हमारे लोकतंत्र के सामने अनेक कठिनाइयाँ हैं। संस्थाओं और व्यक्ति के बीच शक्ति के बँटवारे का मामला शासन चलाने वाले लोगों के बीच महत्त्वपूर्ण बहस का मुद्‌दा रहा है। आधुनिक विश्व में लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था की लोकप्रियता बढ़ने से शक्ति के इस तरह के बँटवारे की आवश्यकता भी बढ़ गई है।

विकेन्द्रीकरण का तात्पर्य संस्थाओं तथा संगठन निर्णय के अधिकार में निचले वर्ग की सहकारिता है। इस प्रकार की सहभागिता लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों पर आधारित होती है। विकेन्द्रीकरण के कई रूप हैं जैसे राजनैतिक, प्रशासनिक तथा आर्थिक। लोकतांत्रिक व्यवस्था में विभिन्न स्तरों पर क्रिया-कलापों के लिए विकेन्द्रीकरण अति आवश्यक है। विकेन्द्रीकरण के पणिामस्वरूप पारम्परिक रूप से सामाजिक-आर्थिक रूप से कमजोर एवं वंचित वर्गों को शक्ति सम्पन्न बनाता है। भारत अनेक प्रकार की सामाजिक सांस्कृतिक परिदृश्य वाला देश है जिसमें बड़े पैमाने पर जटिलता व्याप्त है। उदाहरण के तौर पर भारत में धर्म, भाषा-भाषी, संस्कृति तथा आर्थिक हैसियत वाले लोग रहते हैं। देश में भौगोलिक स्तर पर भी भारी असमानता है। ऐसे देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था को कारगर बनाने के लिए विकेन्द्रीकरण बहुत आवश्यक है। सरकारी योजनाओं और कार्यक्रमों को लागू करने में सत्ता का विकेन्द्रीकरण बहुत मायने रखता है।

आज पंचायती राज व्यवस्था लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का एक उत्तम उदाहरण है। इस अध्याय के अगले भाग में पंचायती राज व्यवस्था का अध्ययन करेंगे।

पंचायती राज संस्था
(Panchayati Raj Institution)

भारत गाँवों का देश है। गाँवों में सत्ता के विकेन्द्रीकरण का व्यावहारिक चित्र ग्रामपंचायतों के द्वारा प्राप्त होता है। भारत में पंचायतों का इतिहास अत्यंत ही प्राचीन है। वैदिक काल में भारत में गाँवों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। बौद्ध काल

में भारत में छोटे-छोटे गणराज्य थे। मुस्लिम काल में भी भारत में पंचायतों का महत्त्व था और वे कर वसूलने का कार्य करती थीं। ब्रिटिश काल में भारतीय पंचायत व्यवस्था को क्षति पहुँची किन्तु 1901 में विकेन्द्रीकरण कमीशन ने पंचायतों को पुनर्जीवित करने की अनुशंसा की। भारत में पंचायती राज की स्थापना स्वतन्त्रता के बाद हुई। बलवन्तराय कमेटी ने भारत में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की सिफारिश की थी। 1958 में राष्ट्रीय विकास परिषद ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया था। महात्मा गांधी ग्राम पंचायतों को राम राज्य का आदर्श मानते थे। ग्रामीण पंचायतों के बिना ग्रामीण पुनर्निमाण का कार्य कठिन है। ग्राम पंचायतों की शुरुआत में पं. नेहरू का भी हाथ था। पं. नेहरू का कहना था कि "गाँवों के लोगों को अधिकर सौंपना चाहिए, उनको काम करने दो चाहे वे हजारों गलतियाँ करें। इससे घबराने की आवश्यकता नहीं, पंचायतों को अधिकार दो।"

भारत में पंच को परमेश्वर की संज्ञा दी गई है। इन पंचों के निर्णय को समाज में सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती थी। रामायण, महाभारत तथा बौद्ध काल में भी भारतीय ग्रामों में पंचायतों का जाल बिछा था। स्वतन्त्र भारत में पंचायतों की पुनः स्थापना पर विशेष जोर दिया गया। भारतीय संविधान के 40वें अनुच्छेद में लिखा है कि "राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए अग्रसर होगा तथा उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने के योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों।" आजादी के बाद और 1993 के पहले तक प्रत्येक राज्य अपनी इच्छानुसार पंचायतों का गठन व निर्वाचन करते थे। किन्तु संविधान के 73वें संशोधन के उपरान्त अब प्रत्येक राज्य अनिवार्य रूप से विधि अनुसार पंचायतों का गठन तथा उसके अनुसार स्थानीय शासन तन्त्र की कार्यवाही को सुनिश्चित करने के लिए बाध्य है। इस प्रकार अब पंचायतों का गठन करना प्रत्येक राज्य सरकारों का अनिवार्य दायित्व है।

हाल में किए गए प्रयास
(Steps taken in Recent Years)

देश में पंचायती राज संस्थाओं को एकरूपता प्रदान करने तथा उन्हें और अधिक शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से केन्द्र सरकार ने एक अधिनियम 'संविधान (73वाँ संशोधन) अधिनियम 1993' पारित किया। यह अधिनियम पंचायती राज का एक नया प्रतिमान कहा जा सकता है। क्योंकि लोकतन्त्र के लिए यह

आवश्यक है कि सत्ता में भागीदारी निचले से निचले लोगों तक को मिले। इस सम्बन्ध में भारत सरकार का यह एक सराहनीय कदम है। इस अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

- यह अधिनियम 24 अप्रैल 1993 से सम्पूर्ण भारत में लागू हुआ।
- संविधान के 73वें संशोधन द्वारा संविधान में एक नया अध्याय 9 जोड़ा गया है। अध्याय 9 के द्वारा संविधान में 16 अनुच्छेद और एक अनुसूची 11वीं अनुसूची जोड़ी गई है। इस अधिनियम के पारित होने से पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्राप्त हो गया है।
- इस संशोधन के लागू होने के परिणामस्वरूप दिल्ली और अरुणांचल प्रदेश को छोड़कर लगभग सभी राज्य/संघ राज्य क्षेत्रों ने अपने कानून बना लिए हैं।
- सभी स्तरों पर पंचायतों के नियमित चुनाव, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और महिलाओं (33 प्रतिशत) के लिए सीटों का आरक्षण और स्थानीय निकायों की स्थिति को मजबूत बनाने की व्यवस्था की गई है।
- इसमें राज्य वित्त आयोग विधियों का प्रावधान किया गया है।
- संविधान के अनुच्छेद 243 (छः) में पंचायतों की स्वशासन की संस्थाओं के रूप में परिकल्पना की गई है। लेकिन शक्तियों और कार्य सौंपने का कार्य विधान मण्डल की इच्छा के अधीन रखा गया है।

कुछ राज्यों में जनजातीय क्षेत्रों के लिए एक अन्य अधिनियम पारित किया गया है। 'पंचायत (अनुसूचित क्षेत्र में विस्तार) अधिनियम, 1996 के प्रावधानों ने पंचायतों को आन्ध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और राजस्थान के जनजातीय क्षेत्रों तक फैला दिया है। यह अधिनियम 24 दिसम्बर, 1996 से लागू हो गया है।

पंचायती राज की व्यावहारिकता
(Practices of Panchayati Raj)

स्व. राजीव गांधी ने 1989 में पंचायती राज विधेयक पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था, "ये विधेयक आवश्यक हैं क्योंकि सरकारी योजनाओं के लाभ आम आदमी तक नहीं पहुँचते हैं, योजनाओं के कुल मूल्य का 15 प्रतिशत भाग ही लाभार्थियों तक पहुँच पाता है और शेष राशि लाल फीताशाही के कारण बर्बाद हो जाती है।" यह विधेयक 16 दिसम्बर, 1991 को 73वें संविधान संशोधन के रूप

में पारित हुआ जो 24 अप्रैल 1993 को लागू हुआ। 1993 से पुनः पंचायती राज व्यवस्था का शुभ आरम्भ हुआ। किन्तु सरकार के अथक प्रयासों के बाद समस्या जहाँ की तहाँ बनी हुई है। क्योंकि इन योजनाओं में जन सहभागिता का अभाव है। नियोजन ऊपर से नीचे चलता है। नियोजन में जनता की भागीदारी सुनिश्चित करने हेतु यह जरूरी है कि नियोजन ग्रास रूट से हो। पहले परिवार स्तर पर फिर ग्राम स्तर पर, फिर ग्राम सभा स्तर पर फिर राज्य और अंत में राष्ट्र स्तर पर। दूसरे लक्षपूर्ति के प्रति लोगों में रुचि बने। खेद की बात है कि ग्राम पंचायत के चुनावों से राजनीति ग्रामीण क्षेत्र में घुस गई है। जिससे विकास तो नहीं किन्तु वैमनष्यता लोगों के बीच बढ़ गई। एक गाँव में नए पंचायती राज के कारण दो पार्टियाँ नहीं बल्कि कई पार्टियाँ बन गईं। जो विकास के लिए एक दूसरे का विरोध करती हैं और एक दूसरे को नीचा दिखाने का कार्य करती हैं।

प्रशासनिक समस्या भी एक बड़ी समस्या है, जो ग्रामीण विकास को रोकती है। क्योंकि ग्राम विकास का ढाँचा दो स्तरों में बँटा है—एक पटवारी, ग्राम सेवक, शिक्षक, ग्राम स्तरीय कार्यकर्त्ता हैं। दूसरा—तहसीलदार, नायब तहसीलदार, एस. डी.एम., विकास अधिकारी, जिलाधीश आदि। वहीं दूसरी ओर पंच, सरपंच, जनपद पंचायत अध्यक्ष, जिला परिषदें आदि। इन अधिकारियों का गाँवों में कम मन लगता है। क्योंकि इनमें से अधिकांश शहरी क्षेत्र से आते हैं। जो यहाँ से ट्रांसफर करवाने के प्रयास में लगे रहते हैं। जिला प्रशासन के पास अधिकार तो होते हैं किन्तु उनके पास सही सूचनाओं का अभाव होता है। ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में क्रियान्वयन के विभिन्न स्तरों पर समन्वय होना भी एक बड़ी समस्या है। इन समस्याओं के समाधान के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

- आज पंचायतों को वित्तीय सबलता प्रदान करना परम आवश्यक है केवल स्वायत्तता देना ही विकास के लिए पर्याप्त नहीं है।
- ग्राम पंचायत में सरकारी कर्मचारियों को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अवसर मिलना चाहिए, इन पर सरपंचों का अधिक नियंत्रण उचित नहीं है।
- प्रत्येक कर्मचारी को उसके कार्य के अनुसार प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।
- पंचायतों में महिलाओं की भागीदारी के साथ-साथ उनकी सुरक्षा की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

सभी राज्यों ने 1994 के अधिनियम 40 में दिए गए प्रावधानों को लागू करने के लिए पंचायती राज कानूनों को पारित किया है। जिसके अन्तर्गत पंचायती राज संस्थाओं के विभिन्न पक्षों जैसे इनका गठन, संरचना, अधिकार किया गया है।

संरचना और बनावट
(Structure and Formation)

प्रत्येक गाँव में एक ग्राम सभा होगी और वह ग्राम स्तर पर ऐसे अधिकारों और शक्तियों का प्रयोग करेगी जो राज्य विधान मण्डल बनाकर उपबंधित करेगा यह एक निकाय होगा जिसमें ग्राम स्तर पर पंचायत क्षेत्र में मतदाताओं के रूप में पंजीकृत सभी व्यक्ति शामिल होंगे। अनुच्छेद 243 (ख) त्रिसत्रीय पंचायती राज का प्रावधान करता है। प्रत्येक राज्य में ग्राम स्तर, मध्यवर्ती स्तर और जिला स्तर पर पंचायती राज संस्थाओं का गठन किया जाएगा, किन्तु जिस राज्य की आबादी 20 लाख से अधिक होगी वहाँ मध्यवर्ती स्तर पर पंचायतों का गठन करना अनिवार्य नहीं होगा।

राज्य विधान मण्डलों को विधि द्वारा पंचायतों की संरचना के लिए उपबन्ध करने की शक्ति प्रदान की गई है। सभी स्तरों की पंचायतों के सभी सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष मतदान से होगा।

सीटों का आरक्षण (Reservation of Seats)

प्रत्येक पंचायत में क्षेत्र की जनसंख्या के अनुपात में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित रहेंगे। ऐसे स्थानों को प्रत्येक पंचायत में चक्रानुक्रम (Rotation) से आबंटित किया जाएगा। आरक्षित स्थानों में से 1/3 स्थान अनुसूचित जातियों और जनजातियों की स्त्रियों के लिए आरक्षित रहेंगे। इसी प्रकार राज्यों को अन्य पिछड़े वर्गों को किसी भी स्तर पर ग्राम पंचायतों की सीटों तथा पदों में आरक्षण देने का अधिकार प्राप्त है।

पंचायत की समयावधि
(Periodocity of Panchayats)

नए अधिनियम के अनुसार भारत में प्रत्येक राज्य की पंचायत राज संस्थाओं का कार्यकाल सामान्य रूप से पाँच वर्ष निश्चित किया गया है। किन्तु अगर कोई

पंचायत निरस्त कर दी जाती है तो उस हालत में उसको फिर से गठित करने के लिए उसके निरस्त किए जाने के छह महीने के अन्दर चुनाव हो जाने चाहिएँ।

पंचायतों के अधिकार एवं उत्तरदायित्व
(Rights and Liabilities of Panchayats)

राज्य विधान मण्डलों को यह अधिकार दिया गया है कि वे पंचायतों को उपयुक्त स्थानीय कर लगाने, उन्हें वसूल करने और उनसे प्राप्त धन को खर्च करने के लिए प्राधिकृत कर सकते हैं। राज्य के समेकित कोष से पंचायतों को सहायता-अनुदान प्राप्त करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक पाँच वर्ष में एक बार एक वित्त आयोग की नियुक्ति होगी, जो पंचायतों की वित्तीय स्थिति की समीक्षा करेगा। केन्द्रीय वित्त आयोग राज्य के समेकित कोष को बढ़ाने के लिए आवश्यक उपाय भी सुझाएगा ताकि राज्य के अन्दर पंचायतों के संसाधनों की कमी की प्रतिपूर्ति हो सके। इस प्रकार अब पंचायती राज संस्थाओं को पहले की अपेक्षा अधिक धन मिलेगा। इससे आयोजना प्रक्रिया में जनता की भागीदारी बढ़ेगी।

इस अधिनियम के संविधान की ग्यारहवीं अनुसूची (अनुच्छेद 243-छ) में पंचायत के कार्य निर्धारित हैं। इनमें से कुछ प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं—

- कृषि, जिसके अन्तर्गत कृषि-विस्तार भी सम्मिलित हैं।
- भूमि विकास, भूमि सुधार का कार्यान्वयन, चकबन्दी और भूमि संरक्षण।
- लघु सिंचाई, जल प्रबन्ध और जल आच्छादन विकास।
- पशु पालन, दुग्ध-उद्योग और मुर्गी पालन।
- लघु उद्योग, जिसके अन्तर्गत खाद्य प्रसंस्करण उद्योग भी है।
- खादी, ग्राम और कुटीर उद्योग।
- ग्रामीण आवासव।
- पेयजल।
- ईंधन और चारा।
- सड़कें, पुलिया, पुल, जलमार्ग तथा संचार के अन्य साधन।
- ग्रामीण विद्युतीकरण, जिसके अन्तर्गत विद्युत का वितरण भी है।
- गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्रोत
- गरीबी उपशमन कार्यक्रम
- शिक्षा जिसके अन्तर्गत प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय भी हैं।

- प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा।
- सांस्कृतिक क्रिया-कलाप।
- स्वास्थ्य और स्वच्छता।
- परिवार कल्याण।
- सार्वजनिक वितरण प्रणाली।
- समाज-कल्याण, अनुसूचित जातियों और जनजातियों का कल्याण।

शहरी क्षेत्र में पंचायत
(Panchayats in Urban Areas)

पंचायत राज व्यवस्था तथा ग्रामीण क्षेत्र की विभिन्न स्तरों की स्वशासन संस्थाओं की तरह शहरी क्षेत्र में भी विभिन्न स्वशासन संस्थाएँ होती हैं। 74वें संविधान, संशोधन अधिनियम में बड़े शहरी या नगरीय क्षेत्र के लिए नगर महापालिका या नगर निगम उससे छोटे नगर के लिए नगर पालिका तथा नगर एवं ग्रामीण क्षेत्र के बीच वाले क्षेत्रों के लिए अर्थात् उस क्षेत्र के लिए जो नगर से छोटा हो और गाँव से बड़ा हो, शहरी या नगर पंचायत की व्यवस्था है। इस 74वें संविधान संशोधन अधिनियम को 20 अप्रैल, 1993 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिली थी। यह अधिनियम तीन प्रकार की नगरपालिकाओं का गठन करता है–

(1) ग्रामीण से शहरी क्षेत्र में विस्तारित होने वाले क्षेत्रों के लिए होने वाले क्षेत्रों के लिए नगर पंचायत।

(2) छोटे शहरी क्षेत्र के लिए नगर परिषद्।

(3) बड़े शहरी क्षेत्र के लिए नगर निगम।

ग्रामीण पंचायतों की तरह इस अधिनियम ने ऊपर बताए गए निकायों को प्रभावशाली बनाने के लिए विभिन्न प्रावधानों का निर्माण किया है, जैसे– नगरपालिकाओं का निश्चित कार्यकाल, राज्य चुनाव आयोग की नियुक्ति, राज्य वित्त आयोग की नियुक्ति तथा महानगरीय तथा जिला योजना आयोग का गठन शामिल है। सभी राज्यों ने इन प्रावधानों को लागू किया है।

संविधान के 73वें संशोधन के द्वारा ग्रास रूट स्तर पर लोकतन्त्र को सुदृढ़ करने का प्रयास किया गया था। इस कार्य को गांधी जी, लोहिया, जे.पी. नारायण, पंडित दीनदयाल उपाध्याय आदि ने जनसाधारण को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाकर उसे लोकतन्त्र का मूलाधार बनाना चाहा था। उस दिशा में ईमानदारी से प्रयास किए जाने चाहिएं जहाँ एक ओर ग्राम सभाओं को सशक्त

बनाना होगा, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण जनता को भी नियोजन का प्रशिक्षण देना होगा। जिससे कि ग्राम स्तर की सारी शासन व्यवस्था पर ग्राम सभा का अंकुश लग सके। सरकारी अफसरों का भ्रष्टाचार पुलिस की लापरवाही आदि खुली सभाओं में बहस का विषय बने और वे भी इन्हें दण्ड दे सकें। एक स्वस्थ विकेन्द्रित लोकतन्त्र, शसक्त पंचायती राज, उद्योगों का ग्राम स्तर तक छोटी-छोटी इकाइयों में विकेन्द्रीयकरण, ग्रामीण जनता के अनुरूप सरल सस्ती प्रौद्योगिक और साथ में सामूहिक शिक्षा का प्रसार ये सभी कार्यक्रम ग्रामीण विकास को अभिष्ट तक ले जाने में गांधी जी के ग्रामस्वराज सपनों को साकार करेगा।

5

आर्थिक विकास तथा सामाजिक परिवर्तन
(Economic Development and Social Change)

सामाजिक परिवर्तन लाने में आर्थिक विकास का महत्व सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। आर्थिक विकास का सीधा सम्बन्ध हमारे जीवन धारण के लिए आवश्यक साधनों से है। कार्ल मार्क्स का कथन है कि आदमी पहले जिन्दा रहेगा फिर कहीं वह इतिहास का या समाज का निर्माण करेगा। जिन्दा रहने के लिए उसे भोजन, कपड़ा व मकान की आवश्य- कता होगी। ये सब वस्तुएँ आर्थिक प्रयासों से ही प्राप्त हो सकते हैं। यही कारण है कि समाज के आर्थिक ढांचे में परिवर्तन या विकास के साथ-साथ सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक जीवन में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन होते रहे हैं। इस मायने में, सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करते समय हम सामाजिक जीवन के आर्थिक पक्षों की अवहेलना नहीं कर सकते।

किसी भी देश का आर्थिक विकास मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करता है--प्राकृतिक संसाधन तथा मानवीय संसाधन वास्तव में देखा जाए तो आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान मानवीय संसाधनों का होता है। मानवीय प्रयत्नों के अभाव में किसी भी प्रकार की आर्थिक वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन सम्भव नहीं है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी देश का वास्तविक ह्रास उस देश की भूमि अथवा पानी में, वनों या खाद्यानों में, पशुओं में नहीं वरन् उस देश के स्वस्थ पुरुषों, बच्चों एवं स्त्रियों में निहित है। समाज में सभी व्यक्तियों की अपनी-अपनी आर्थिक समस्याएँ हैं। एक व्यक्ति के रूप में हम किस प्रकार अपनी

जीविका चलाते हैं, यह हमारे जीवन का एक सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है। समाज के सदस्य अपने भोजन का उत्पादन एवं वितरण किस प्रकार करते हैं, ये सब समाज में आर्थिक उत्पादन के उदाहरण हैं। ये मौलिक कारर्य सामाजिक संरचना के ढाँचे को निर्धारित करने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

किसी भी देश की आत्मनिर्भरता उसके विकास में सहायक होती है। इसलिए गाँवों का विकास किए बिना भारत में आर्थिक विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। **महात्मा गांधी** ने 20वीं सदी में 'हिन्द स्वराज' पुस्तक लिखकर एक ऐसे भारत की कल्पना की थी जिसमें आत्मनिर्भर गाँव राष्ट्र की इकाई हों, उनका मानना था कि असली भारत गाँवों में निवास करता है। यह बात आप 21वीं सदी में भी उतनी ही सच है। आप भी ग्रामीण विकास उचित तरीके से न हो पाने से देश के सामने अनेक समस्याएँ खड़ी हुई हैं। जैसा कि सभी जानते हैं कि भारत गाँवों का देश है। हमारे देश में 6 लाख से भी अधिक गाँव हैं। गाँवों में कृषि ही लोगों का मुख्य आर्थिक व्यवसाय है। गाँवों में भूमि ही उत्पादन का मुख्य साधन है। इस तरह हम कह सकते हैं कि भारत का आर्थिक विकास मूलतः कृषि विकास पर निर्भर है। अब हम इन पृष्ठभूमि में कृषि संरचना तथा सामाजिक परिवर्तन के कुछ निर्णायक पक्षों का विवेचन करेंगे।

भूमि-सुधार
(Land Reform)

भारत में आजादी से पहले भू-धारण की प्रचलित प्रणाली न तो आर्थिक उत्पादन की दृष्टि से उपयुक्त थी और न ही सामाजिक-आर्थिक न्याय की दृष्टि से। इसलिए, देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद घिसी-पिटी भू-धारण प्रणाली (Land Tenure System) का पुनर्गठन बहुंत जरूरी समझा गया। देश का आम किसान जो इस प्रणाली के कराण अत्यधिक गरीबी के दौर से गुजर रहा था और इसकी सामाजिक स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। फलतः भूमि-सुधार (Land Reform) के कार्यक्रमों को किसानों के सामाजिक-आर्थिक उत्पादन के लिए देश के सभी राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों में लागू किया गया। भारत में सामाजिक-आर्थिक विकास के सन्दर्भ में भूमि-सुधार कार्यक्रम कृषि संरचना का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। यद्यपि भूमि-सुधार कार्यक्रमों की गति सब राज्यों में एक समान नहीं रही है, फिर भी भूमि सम्बन्धों में परिवर्तन का यह कार्यक्रम सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन का ही संकेतक है।

भूमि-सुधार की अवधारणा
(Concept of Land Reform)

ग्रामीण जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या भू-स्वामित्व से सम्बन्धित रही है। स्वतन्त्रता से पहले जो व्यक्ति भूमि को जोतते थे वे उस भूमि के स्वामी नहीं होते थे। दूसरी ओर भूमि के स्वामी बिना कुछ किए भूमि के कास्तकार के श्रम पर लाभ प्राप्त करते थे। यह प्रथा बड़ी ही अन्यायपूर्ण थी इसके कारण कृषि उत्पादन घटता गया और परिणामस्वरूप गरीबी बढ़ती गई। इसलिए खेत को जोतने वाले और अनाज उत्पन्न करने वाले वास्तविक किसान के पक्ष में इस व्यवस्था में परिवर्तन करना अनिवार्य था। साधारण शब्दों में इस तरह का परिवर्तन करने के लिए किए जाने वाले उपायों को भूमि-सुधार कहा जाता है। भूमि-सुधार शब्द का प्रयोग संकीर्ण तथा व्यापक दोनों अर्थों में होता है। संकीर्ण अर्थ में भूमि-सुधार का अर्थ छोटे किसान तथा भूमिहीनों के लाभ के लिए जमीन के अधिकारों का पुनः वितरण है। दूसरी ओर व्यापक अर्थ में भूमि व्यवस्था में सम्बन्धित संस्थाओं तथा कृषि संगठन में किसी भी प्रकार के सुधार को भूमि-सुधार कहा जा सकता है।

इस प्रकार भूमि-सुधार की इस अवधारणा से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूमि-सुधार को केवल जमीन के पुनर्वितरण तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए अपितु कृषि की स्थिति में सुधार किए गए उपायों को भी इसमें सम्मिलित करना चाहिए। भूमि-सुधार के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र की परिभाषा के अनुसार, *"आदर्श भूमि-सुधार कार्यक्रम ऐसा एकीकृत कार्यक्रम है जो कृषि संरचना के दोषों से उत्पन्न आर्थिक तथा सामाजिक विकास के अवरोधों को समाप्त करने के लिए बनाया गया।"* भूमि-सुधार कार्यक्रमों द्वारा भारत सरकार ने कृषि व्यवस्था की संरचनात्मक कृषि-सुधार कार्यक्रमों की बाधाओं को समाप्त करने का बीड़ा उठाया है।

भूमि-सुधार के उद्देश्य
(Objectives of Land Reform)

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भूमि सुधार कार्यक्रमों पर विशेष बल दिया गया और इस सम्बन्ध में भू-सुधार की नीति भी बनाई गई वास्तव में मैं भू-सुधार नीति का लक्ष्य समानतावादी कृषि सम्बन्धों को पुर्नगठन, भूमि सम्बन्धों में शोषण समाप्त करना, कास्तकार को जमीन उपलब्ध कराने का सदियों पुराना लक्ष्य प्राप्त करना, गाँव के गरीब लोगों के भूमि-धारण आधार को बढ़ाना, कृषि

उत्पादन में वृद्धि करना तथा कृषि अर्थव्यवस्था का विविधीकरण करना ताकि कृषि भूमि से अधिकाधिक उपयोगी फसलों का उत्पादक हो सके। वास्तव में भूमि-सुधार के कार्यक्रम हरित क्रान्ति के साथ जो सीधे तौर पर जुड़े हैं। हरित क्रान्ति कृषि व्यवसाय आन्दोलन है जिससे देश के 105 करोड़ व्यक्तियों को खाद्यान का अभाव अनाज का पर्याप्त मात्रा में निर्यात भी किया जा सके।

भूमि-सुधार भूमि की उत्पादकता बढ़ाने का साधन है। कृषि प्रधान देशों में आर्थिक विकास के लिए भूमि-सुधार को एक मुख्य मुद्दे के रूप में स्वीकार किया जाता है। ये कृषि विकास का एक प्रमुख कार्यक्रम बन गया है। विभिन्न सरकारी कार्यक्रमों के माध्यम से ग्रामवासियों के निर्धन वर्ग को राहत देने का प्रयास किया जाता है। कई राज्यों में एकीकृत ग्रामविकास योजना प्रारम्भ की गई है। ताकि ग्रामीण निर्धनों को सहायता मिल सके। कभी-कभी कुछ राज्यों में सरकार द्वारा "काम के बदले अनाज" योजना चलाई जाती है जिससे ग्रामीण निर्धनों को उस अवधि में लाभ मिलता है जब उन्हें भू-स्वामियों के पास काम मिलने में कठिनाई होती है।

भारत में भूमि-सुधार
(Land Reforms in India)

स्वतन्त्रता से पहले भारत में भू-धारण प्रणाली के तीन मुख्य स्वरूप, प्रकार अथवा वर्ग प्रचलित रहे; इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है–

(1) जमींदारी प्रथा–इस प्रथा का आरम्भ लार्ड कार्नवालिस द्वारा बंगाल में सन् 1793 से किया गया। सच तो यह है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जमींदारी प्रथा इसलिए शुरू की थी ताकि अपने निहित स्वार्थों (Vested interests) की दृष्टि से एक विशेषाधिकार प्राप्त स्वामीनिष्ठ वर्ग का निर्माण किया जा सके। दरअसल भू-राजस्व (Land Revenue) वसूल करने वाले अधिकारियों का पद बढ़ाकर ही उन्हें भू-स्वामी अथवा जमींदार बना दिया गया; पहले ये राजस्व समाहर्ता (Rent Collectors) केवल भू-राजस्व एकत्र करते थे और जिसके बदले में उन्हें कमीशन मिलता था; लेकिन जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत उन्हें जमींदार (भू-स्वामी) ही बना दिया गया; फलतः भूमि में स्थायी स्वार्थ वाले वर्ग का विकास हुआ। यह वर्ग काश्तकारों से लगान वसूल करता था और सरकार द्वारा निर्धारित माल-गुजारी सरकार को अदा करता था। सरकार का तर्क था कि जमींदार ग्रामीण जनता के सर्वश्रेष्ठ प्रबुद्ध वर्ग के प्रतिनिधि हैं, इसलिए उन्हें भूमि के अधिकार सौंप

दिए जाने के फलस्वरूप भूमि और कृषि-कार्य में सुधार होगा लेकिन ऐसा नहीं हुआ। जनसंख्या वृद्धि तथा ग्रामीण उद्योगों के पतन के कारण भूमि की मांग बढ़ गई, फलतः जमींदार काश्तकारों से अधिकाधिक लगान वसूल करने लगे।

इस प्रकार जमींदारी प्रथा वाले गाँवों में दो कृषि वर्ग बन गए—(i) दूरवासी भू-स्वामी और (ii) काश्तकार। दूरवासी भू-स्वामियों ने असली काश्तकारों का जी भरकर शोषण किया; सरकार की ओर से किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होने के कारण, जमींदार किसानों से लगान की निर्ममता पूर्वक वसूली करते थे, मनमाने ढंग से उन्हें जमीनों से बेदखल भी कर देते थे और बेगार भी लेते थे। इस प्रकार, **जमींदारी प्रथा दमन और आतंक का प्रतीक बनी हुई थी। जमींदारियों के अनुपात में अथवा विशेष कृपा के पात्र होने के नाते प्रत्येक जमींदार की मालगुजारी निर्धारित कर दी गयी थी। जमींदार जो निर्धरित राशि प्रतिवर्ष सरकार को देता था, उसे माल-गुजारी (Revenue) कहा जाता था और इस व्यवस्था के अन्तर्गत जोतदार या कृषक जो निर्धारित रकम प्रतिवर्ष जमींदार को देता था, उसे लगान (Rent) कहा जाता था।** वास्तव में आम जोतदार, काश्तकार या कृषक जमींदारी प्रथा के दौरान सुखी नहीं था और उसकी बात की कोई सुनवाई नहीं होती थी, जमींदार के प्रति निष्ठा ही उसका कर्त्तव्य था।

(2) महालबारी प्रथा—भू-धारण की इस प्रथा में, भूमि पर ग्रामीण समुदाय का संयुक्त स्वामित्व होता था और गाँवों के सदस्य या तो संयुक्त तौर पर अथवा अलग-अलग लगान चुकाने के लिए उत्तरदायी होते थे। ये प्रणाली पहले आगरा तथा अवध में और उसके बाद पंजाब में लागू की गयी। इस व्यवस्था के अधीन गाँव की साझी जमीन पर सम्मिलित तौर से पूरे ग्रामीण समुदाय का संयुक्त स्वामित्व होता था, इस संयुक्त स्वामित्व में गाँव की बंजर भूमि भी शामिल होती थी, इस बंजर भूमि को ग्रामीण समुदाय सरकार से अनुमति लिए बिनां किराए पर दे सकता था और उससे प्राप्त आय को सदस्यों में बाँट दिया जाता था। दरअसल यह प्रणाली विशेष तौर पर पंजाब में मुस्लिम परम्पराओं का परिणाम थी।

इस प्रणाली में सम्पूर्ण गाँव के लगान के रूप में एक निश्चित राशि निर्धारित कर दी जाती थी जिसे ग्रामीण समुदाय सामूहिक अथवा व्यक्तिगत तौर पर सरकार को अदा करता था; गाँव का लम्बरदार लगान एकत्र करता था जिसके लिए उसे *पंचोतरा* अर्थात् 5% कमीशन मिलता था।

(3) रैयतबाड़ी प्रथा—लार्ड कार्नवालिस की जमींदारी प्रथा में जोतदारों या कृषकों का अत्यधिक शोषण होता था; इस शोषण को समाप्त करने की दृष्टि से

लार्ड विलियम वेन्टिग ने रैयतबाड़ी प्रथा को चलाया, रैयत भूमिधारी जोतदार या कृषक थे, ये जमींदारों के अधिकार नियमों के अन्तर्गत इनका सीधा सम्बन्ध ब्रिटिश सरकार से था। पहला रैयतबाड़ी बन्दोबस्त सन् 1792 में मद्रास में लागू हुआ। यह प्रणाली हिन्दू परम्परा का परिणाम थी इस प्रणाली का प्रचलन बम्बई, बरार और मध्य भारत में था, रैयत को अपनी भूमि किराए पर उठाने की छूट थी तथा उसका भूमि पर जब तक अस्थाई धारण-अधिकार रहता था जब तक वह सरकार की नियत राजस्व अदा करता रहे। इस प्रकार यह प्रथा जमींदारी प्रथा के बिल्कुल विपरीत थी और इसमें रैयतों को जमींनों के अनुपात में निर्धारित किराया अथवा लगान सीधा सरकार को देना होता था। एक निश्चित अवधि तक सरकार की लगान देने के बाद रैयत जमीन के मालिक बन जाते थे; लगान अदा न होने पर इन्हें जमीनों से बेदखल किया जा सकता था। इस व्यवस्था की कृषकों को राहत देने अथवा भूमि लगान की जमींदारी प्रणाली में सुधार करने की दृष्टि से सर्वप्रथम *मद्रास प्रेसीडेन्सी* में लागू किया गया; इसका प्रचलन मद्रास तथा बम्बई प्रान्तों में रहा।

(4) भू-धारण प्रणालियों से बिचौलियों का उन्मूलन—भू-धारण की उपरोक्त तीनों प्रणालियों ने सामाजिक विभेदीकरण के जो प्रतिमान स्थापित किए। वे इन व्यवस्थाओं अथवा प्रथाओं के उन्मूलन के कारण टिक नहीं सके। स्वतन्त्र भारत में 1950 तथा 1960 के दशकों में इन प्रथाओं के उन्मूलन के कारण ग्रामीण समुदाय के परम्परागत प्रतिमान तथा मूल्य धराशायी होने लगे। अब प्रशासन एवं सरकारी कर्मचारियों के साथ ग्रामीणों के सम्बन्धों का एक नया सिलसिला शुरू हो गया।

स्वतन्त्रता के पश्चात् विभिन्न प्रदेशों की विधानसभाओं द्वारा भू-सुधार की दृष्टि से बिचौलियों के उन्मूलन के अधिनियम पारित करने की बाढ़ सी आ गई। यद्यपि इस दिशा में प्रयत्न पहले से ही किए जाने लगे थे लेकिन बिचौलियों का वास्तविक उन्मूलन 1948 में मद्रास के अधिनियम से शुरू हुआ। इसके बाद सभी राज्यों अथवा प्रदेशों में इस बारे में कानून।

स्वतन्त्रता के बाद भूमि-सुधार
(Post Independence Land Reform)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राज्य सरकारों द्वारा अनेक भूमि-सुधार नियम पारित किए गए। भूमि-सुधार को भूमि कानून के माध्यम से प्रारम्भ करने की नीति अपनाई गई। भूमि-सुधार की रणनीति के मुख्य अंग निम्नलिखित हैं—

(1) जमींदारी प्रथा की समाप्ति और बिचौलियों का उन्मूलन—इस बारे में सम्बन्धित राज्यों में कानून पारित हो चुके हैं।

(2) काश्तकारी सुधार—विभिन्न अधिनियमों द्वारा काश्त करने वाले अथवा जोतकार के हितों को विशेष सुरक्षा प्रदान की गई है, जोतकार अपनी भूमि का पूर्ण स्वामी हो गया है।

(3) कृषि भूमि की उच्चतम सीमा-निर्धारण—इस व्यवस्था के अनुसार काश्तकार को जोत की सीमा निश्चित कर दी गई है, एक निश्चित सीमा से अधिक भूमि को राज्य सरकारों ने अधिगृहित किया है। ऐसी भूमि को भूमिहीन कृषकों अथवा कामर्थियों में वितरित किया गया है।

(4) जोत की चकबन्दी—आम तौर पर किसानों के खेत छिटके हुए और छोटे-छोटे हैं। इन खेतों को चकबन्दी के द्वारा एक जगह एकत्रित करके चक बना दिए गए हैं ताकि किसानों को कृषि उत्पादन में सुविधा रहे और उत्पादन भी बढ़ाया जा सके। इस बारे में विभिन्न प्रदेशों में समुचित कानून पारित किए जा चुके हैं।

(5) भूमिहीन ग्रामीण गरीबों को भू-दान सहित सरकारी बंजर भूमि का वितरण—भू-दान कृषि की उच्चतम सीमा-निर्धारण से प्राप्त भूमि तथा बंजर भूमि को भूमिहीनों में वितरित किया गया है ताकि गरीबी की रेखा से नीचे आने वाले नागरिकों का जीवन-स्तर बढ़ाया जा सके तथा देश में कृषि उत्पादन बढ़ाया जा सके।

(6) भू-अभिलेखों का नवीनीकरण व आधुनिकीकरण—भू-सुधार के अंगों में एक महत्वपूर्ण अंग भू-अभिलेखों को व्यवस्थित करके अभिलेखों को नवीनतम एवं सरलता से ग्राही बनाना होता है; इतना ही नहीं, इसके साथ-साथ भू-अभिलेखों को आधुनिक तकनीकी से इस प्रकार व्यवस्थित करना भी होता है ताकि भू-अभिलेखों की सामान्य जानकारी शीघ्रता से उपलब्ध हो सके। इस दिंशा में पिछले 10 वर्षों में काफी प्रगति हुई है।

उपरोक्त अंगों के अतिरिक्त उपेक्षित अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की भूमि का पुर्नस्थापन करना एवं उपेक्षा को रोकने के लिए विशेष कदम उठाना, भूमि तक पहुँच बनाने के लिए महिलाओं का सशक्तीकरण और *लिंग* आधारित भेदभाव को समाप्त करना भी सम्मिलित है। इस कार्य के लिए समाज में जनजागृति की आवश्यकता है। विभिन्न राज्यों की रिपोर्टों के अनुसार, अब तक 3.75 लाख जनजातीय भूमि उपेक्षा के मामले पंजीकृत किए गए हैं इनमें से 1.62 लाख मामले जनजातियों के पक्ष में सुलझा लिए गए हैं।

भारत में भूमि-सुधार की प्रगति एक नजर में
(Highlights of Progress of Green Revolution in India)

भारत में भूमि-सुधार कार्यक्रम के प्रमुख अंग हैं—(i) मध्यस्थों की समाप्ति, (ii) काश्तकारी सुधार, (iii) प्रति परिवार भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करके वेशी भूमि तथा ग्राम समाज की वेशी भूमि को भूमिहीनों में वितरित करना, (iv) जोतों की चकबन्दी करना।

पचास व साठ के दशकों में अधिकांश राज्यों में भूमि हदबन्दी कानून (Land Ceiling Laws) बनाए गए, जिन्हें बाद में 1972 में केन्द्र द्वारा जारी दिशा-निर्देशों के अनुरूप संशोधित किया गया। विभिन्न परिसीमन कानूनों के अन्तर्गत सितम्बर 2001 तक देश में 73.66 लाख एकड़ भूमि अतिरिक्त घोषित की गई, जिसमें से लगभग 64.95 लाख एकड़ भूमि को अधिग्रहीत किया गया और 53.79 लाख एकड़ भूमि को 55.84 लाख लाभार्थियों में वितरित किया गया, जिनमें से अनुसूचित जाति से सम्बन्धित 36% लोग थे व 15% अनुसूचित जनजाति से सम्बन्धित थे।

वर्ष 1988-89 में भू-अभिलेखों के कम्प्यूटरीकरण के लिए एक केन्द्र-प्रायोजित योजना आठ जिलों में शुरू की गई थी। वर्तमान में यह योजना देश के 582 जिलों में लागू की गई है। अनेक राज्यों में उपयोगकर्ताओं तथा आम जनता के लिए अधिकारों के अभिलेखों की कम्प्यूटरीकृत प्रतियाँ उपलब्ध कराई गई हैं। 1997-98 के दौरान इस योजना को तहसील/तालुक स्तर पर लागू करने का निर्णय लिया गया था, ताकि जनता को सामान्य तौर पर कम्प्यूटरीकृत भूमि रिकॉर्ड उपलब्ध कराने में सुविधा हो सके। 31 मार्च, 2002 तक 569 जिलों के लगभग 2426 तहसीलों/तालुकों में यह योजना लागू की गई है।

हरित क्रान्ति
(Green Revolution)

कृषि व्यवसाय में सर्वांगीण विकास की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की योजनाओं को ग्रामों में लागू किया जा रहा है; किसानों को अधिकाधिक सुविधाएँ उपलब्ध कराने पर बल दिया जा रहा है। वास्तव में सरकार का यह लक्ष्य है कि देश अन्न उपज में आत्मनिर्भरहीन हो बल्कि देश में इतनी अधिक उपज हो कि उसका निर्यात भी किया जा सके ताकि देश की समृद्धि की दृष्टि से समुचित आय भी हो सके।

हरित क्रान्ति क्या है? सामान्य तौर पर हरित क्रान्ति का अभिप्राय कृषि व्यवसय के सर्वांगीण विकास से होता है और इसका अन्तिम लक्ष्य कृषि फसलों का अधिकतम उत्पादन होता है। इसे प्राप्त करने के लिए कृषि विकास में क्रान्तिकारी नीतियों का अनुसरण करना होता है।

खेती की अच्छी उपज के लिए उन सभी चीजों पर निर्भर करना पड़ता है जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तौर से अच्छी उपज के लिए सहायक हैं; इनके अन्तर्गत सिंचाई के उत्तम साधन, अच्छे बीज, अच्छी वैज्ञानिक खाद कृषि की नई तकनीक विभिन्न फसलें उगाने की समुचित जानकारी, कीटनाशक दवाएँ, मिट्टी की जाँच, आधुनिक कृषि उपकरण, भूमि-सुधार आदि सभी कुछ आ जाता है क्योंकि इन सभी वस्तुओं को आधुनिक तकनीकी और ज्ञान के आधार पर उपयोग करने से अच्छी व अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है। इसलिए, **हरित क्रान्ति कृषि व्यवसाय में अधिकाधिक और अच्छा अन्न उपजाने का एक सम्पूर्ण कारगर आन्दोलन है।**

हरित क्रान्ति के सहायक अंग या तत्व
(Assisting Elements of Green Revolution)

हरित क्रान्ति अधिक अन्न उत्पादन का एक सम्पूर्ण आन्दोलन है किन्तु अधिक उपज किसी एक तत्व पर निर्भर नहीं है बल्कि इसके विभिन्न सहायक तत्व हैं, इनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं–

(1) अधिक उपज देने वाले बीजों का प्रयोग–अधिक उत्पादन के लिए उपजाऊ भूमि एवं पानी के अलावा उन्नत बीजों का होना भी आवश्यक है। कृषि अनुसंधानों से स्पष्ट है कि उन्नत बीजों के प्रयोग से उपज में कई गुना वृद्धि हो जाती है। किसानों तक उन्नत बीजों को पहुँचाने के लिए **राज्यों में बीज निगम** स्थापित किए गए हैं जिनसे बीजों के उत्पादन, प्रमाणीकरण और वितरण में समन्वय स्थापित किया जा सके। इसी दृष्टि से *राष्ट्रीय* बीज निगम की स्थापना की गई है।

(2) वैज्ञानिक खाद का प्रयोग–कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए आज किसान अपने खेतों में वैज्ञानिक ढंग से तैयार की गई रसायनिक खादों का प्रयोग कर रहा है। वैज्ञानिक खादों में D.A.P., NP.K., नाइट्रोजन, फास्फेट, पोटाश, यूरिया आदि प्रमुख हैं। इन रसायनिक खादों के प्रयोग से उपज में अत्यधिक वृद्धि हुई है। सरकार उर्वरकों का प्रयोग बढ़ाने के लिए उर्वरकों पर छूट एवं इनकी

खरीद के लिए ऋण भी दे रही है। आज भारत में उर्वरकों का प्रयोग इतना ज्यादा होने लगा कि अब भारत विदेशों से इसे आयात कर रहा है। उर्वरक की खपत पर आज भारत विश्व में चौथे स्थान पर है।

(3) कृषि में आधुनिक उपकरण एवं संयन्त्रों का प्रयोग—कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए आज आधुनिक उपकरणों और संयन्त्रों का प्रयोग लगातार बढ़ रहा है। यन्त्रीकरण ने कृषि में प्रयोग होने वाले उपकरणों को नया स्वरूप दिया है। आज कृषि में ट्रेक्टर, बुलडोजर, डीजल इंजन, ट्यूबवैल्स आदि मशीनों का उपयोग हो रहा है, जिससे कृषि में यन्त्रीकरण से कृषक के श्रम एवं धन में भी बचत हुई है। कृषि में इन आधुनिक उपकरणों के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए सरकार किसानों को प्रोत्साहित कर रही है तथा अधिक सहायता भी उपलब्ध करा रही है। इन सबका ही परिणाम है कि आज भारत अन्न उपजाने में आत्मनिर्भर हो गया है।

(4) कीटनाशकों का प्रयोग—स्वतन्त्रता के बाद सरकार ने कीटनाशक दवाओं और उनके प्रयोग के लिए उपकरणों के निर्माण की ओर ध्यान दिया। आज खेतों में फसल को कीटों से बचाने के लिए स्प्रे द्वारा कीटनाशक दवाएँ छिड़की जाती हैं, आवश्यकता पड़ने पर हेलीकॉप्टरों से भी कीटनाशक दवाएँ बड़े-बड़े खेतों में छिड़कवाई जाती हैं। फसलों की रक्षा हेतु दूरदर्शन पर भी नियमित जानकारी किसानों को दी जा रही है। इसके साथ ही समय-समय पर कृषि सम्बन्धी प्रदर्शनी भी लगाई जाती है जिसमें किसानों को खेती सम्बन्धी (फस़लों की सुरक्षा) जानकारी दी जाती है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर रही है।

(5) सिंचाई की व्यवस्था—कृषि कार्य में सबसे अधिक महत्वपूर्ण पानी है। पानी के बिना न खेती हो सकती है न उत्पादन में वृद्धि और न हरित क्रान्ति को सफलता मिल सकती है। इसके लिए सरकार ने जल व्यवस्था पर अधिक जोर दिया है। भूतल संसाधन का समुचित उपयोग तथा वर्षा के जल को अधिक-से-अधिक एकत्र करने की व्यवस्था सरकार करवा रही है। ताकि सूखे के समय भी पानी की समुचित व्यवस्था की जा सके। सरकारी जल व्यवस्था और पंचवर्षीय योजनाओं का परिणाम यह हुआ है कि सिंचाई की योजना पूर्व अवधि में जो सिंचाई क्षमता 226 लाख हैक्टेयर वार्षिक थी, अब 1000 लाख हैक्टेयर से अधिक हो गई है। सिंचाई व्यवस्था को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए विश्व बैंक से सहायता ली जा रही है और राष्ट्रीय स्तर की योजनाओं द्वारा देश में सिंचाई के क्षेत्र को लगातार बढ़ाने का प्रयास जारी है।

(6) भूमि-सुधार—कृषि उपज बढ़ाने के लिए भूमि को उपजाऊ बनाना आवश्यक है तथा साथ-ही-साथ वे सभी उपाय भी करने होंगे जिनसे सामान्य से सामान्य कृषक को लाभ प्राप्त हो सके। इस दृष्टि से अनेक भूमि-सुधार हेतु अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं, जैसे—

(i) जमींदारों और मध्यस्थों का उन्मूलन, (ii) पट्टेदारी प्रथा में सुधार, (iii) चकबन्दी कानूनों का निर्माण, (iv) उपजाऊ भूमि के कटाव व क्षय पर रोक, (v) पंचवर्षीय योजनाओं में भूमि-सुधार पर बल, (vi) ऊबड़-खाबड़ भूमि को समतल करना आदि।

(7) भू-संरक्षण—वायु एवं जल भूमि की ऊपरी परतों को बहा ले जाते हैं जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति निरन्तर घटती रहती है। इसे रोकने के लिए अधिक-से-अधिक मात्रा में वृक्ष लगाने चाहिएं तथा ढलाने वाले क्षेत्रों में सीढ़ीदार खेत बनाने चाहिएं।

(8) बहुफसली कृषि—एक क्षेत्र में एक वर्ष के दौरान एक से अधिक फसलें उगाने की व्यवस्था पर अधिक जोर दिया जा रहा है। इसके लिए विभिन्न उपाय किए जा रहे हैं—जैसे सिंचाई का उचित प्रबन्ध, उचित खादों का प्रयोग, चयनात्मक यन्त्रीकरण, कम समय में पकने वाली फसलें।

(9) सघन कृषि पर बल—सीमित कृषि भूमि से अधिकतम उत्पादन के लिए आवश्यक चीजों का प्रयोग करना जिनसे उत्पादन को अधिक-से-अधिक बढ़ाया जा सके। इसके लिए अच्छी खाद, अच्छे बीज, सिंचाई का समुचित प्रबन्ध, मानव श्रम एवं आवश्यक यन्त्रीकरण का प्रयोग कर उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है।

(10) कृषि ऋण व्यवस्था—किसानों को आवश्यक खाद, बीज एवं कृषि उपकरणों हेतु लघु एवं दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था आवश्यक है; इसके लिए ग्रामीण स्तर पर क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक अक्टूबर 1975 में खोले गए। इनका मुख्य कार्य कृषि तथा ग्रामीण विकास के लिए ऋण देना और कमजोर वर्गों की उधार की आवश्यकता को पूरा करना है। इन ऋणों से किसान सिंचाई, भूमि-सुधार, बागानों का विकास, कृषि उपकरणों की खरीद, पशुपालन, पोल्ट्री फार्म, गोदामों एवं मण्डी निर्माण सम्बन्धी परियोजनों के लिए वित्तीय आवश्यकता को पूरा करना है।

(11) मूल्य का निर्धारण—अनाज का उत्पादन किसान करता है; लेकिन अपनी खराब आर्थिक स्थिति के कारण उसे अपनी फसल बहुत कम दामों में दलालों को बेचने पर विवश होना पड़ता है; इस शोषण से मुक्ति दिलाने हेतु कृषि

उत्पादन का मूल्य अब सरकार निश्चित करती है और किसानों से विभिन्न अनाज-दालें आदि क्रय करती है।

हरित क्रान्ति के सामाजिक-आर्थिक परिणाम
(Socio-Economic Consequences of Green Revolution)

स्वतन्त्रता से पहले ग्रामों एवं कृषि के विकास पर कोई ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया। स्वतन्त्रता के बाद प्रथम प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने औद्योगीकरण और कृषि विकास को सन्तुलित रूप में विकसित करने का प्रयास किया। पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप भारत आज अन्न उत्पादन में स्वावलम्बी है। आज हरित क्रान्ति केवल एक खाद्यान्न आन्दोलन ही नहीं वरन् ग्रामीण आर्थिक सामाजिक उत्थान की क्रान्ति है।

आज देश में 70% श्रमिक कृषि से ही जीविका चला रहे हैं। राष्ट्रीय उत्पादन में कृषि की 32% भागीदारी है। 1950 के दशक में 395 ग्राम अनाज प्रति व्यक्ति उपलब्ध था जो आज 600 ग्राम से अधिक पहुँच गया है। हरित क्रान्ति का यह परिणाम हुआ कि कृषि उत्पदन में दूसरे खाद्य पदार्थों को भी महत्व दिया जाने लगा जैसे—सूरजमुखी, सोयाबीन, और ग्रीष्मकाल में होने वाली मूँगफली और मूँग जैसी फसलों का उत्पादन प्रारम्भ हो गया।

हरित क्रान्ति का ग्रामीण आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

(1) किसान को आर्थिक स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन—प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ने से किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है और उनके जीवन-स्तर में भी गुणात्मक सुधार हो रहा है।

(2) गरीबी की रेखा से ऊपर उठना—वे असंख्य किसान जो गरीबी के दुष्चक्र में फँसे थे इससे उबर रहे हैं। हरित क्रान्ति की विभिन्न योजनाओं ने छोटे किसानों की आर्थिक सहायता प्रदान की है।

(3) रोजगारों में वृद्धि—हरित क्रान्ति से असंख्य लोगों को रोजगार प्राप्त हुए हैं। जहाँ पहले वर्ष में केवल एक या दो फसलें उगाई जाती थीं अब उन्नत किस्म के बीजों से वर्ष से कई फसलें उगाई जाती हैं जिनसे मौसमी बेरोजगारी भी दूर हुई है।

(4) असमान विकास—हरित क्रान्ति के फलस्वरूप असमान विकास बढ़ा है। वे किसान जिनके पास आधुनिक कृषि उपकरण, नवीन तकनीकी ज्ञान,

अन्तत बीज एवं खाद हैं, सिंचाई के समुचित सधन हैं उनके खेतों में तो फसलों का उत्पादन खूब अच्छा हो रहा है, लेकिन वे किसान जिनके पास न उपजाऊ भूमि है, तकनीकी ज्ञान एवं सुविधा वह परम्परागत तरीके से ही कृषि कर रहे हैं इसलिए इनका उत्पादन भी कम हो रहा है अतः हरित क्रान्ति से कृषि का असमान विकास भी हुआ है।

(5) धनी और निर्धन किसानों में दूरी—हरित क्रान्ति के फलस्वरूप धनी एवं निर्धन वर्ग के किसानों की आर्थिक स्थिति में दूरी को सहजता से देखा जा सकता है। एक तरफ वे किसान हैं जिनके पास कृषि सम्बन्धित सभी साधन हैं एक तरफ किसानों का साधन विहीन वर्ग है। धनी किसान हरित क्रान्ति का पूरा लाभ उठाकर धनाढ्य होते जा रहे हैं। साधन विहीन किसान अपनी आवश्यकताओं को ही बड़ी मुश्किल से पूरा कर रहे हैं।

(6) पूँजीपति किसानों का एक नया वर्ग—आजकल हरित क्रांति पट्टियों में पूँजीपति किसानों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया है। ये वे शहरी धनी लोग होते हैं जिनके पास अथाह सम्पत्ति होती है। ये नगर से दूर बहुत सस्ती जमीन लेकर फार्म हाउस बनाते हैं। ये फार्म हाउस इनकी विलासिता के द्योतक हैं। यहाँ खेती शौकिया और कम की जाती है और बाकी ऐशो-आराम की सभी सुविधाएँ यहाँ होती हैं। ये फार्म हाउस पिकनिक स्पाट की भूमिका निभाते हैं। इनका हरित क्रांति से कोई लेना देना नहीं है।

भारत में हरित क्रान्ति की प्रगति एक नजर में
(Highlights of Progress of Green Revolution in India)

संसार के प्रत्येक देश के अनुसंधान से ही वहाँ की परम्परागत खेती में सुधार हुआ है। सन् 1834 में एलसेस नामक स्थान पर जे.वी. बोसिंगाल्ट कृषि वैज्ञानिक द्वारा प्रथम अनुसंधान केन्द्र स्थापित किया गया। तब से अनुसंधान कार्य आरम्भ हुआ। सन् 1908 में *'अमरीकन सोसाइटी ऑफ एग्रोनोमी'* की स्थापना से वहाँ के कृषि विकास में तेजी आई, जबकि हमारे देश में ठीक 50 वर्ष बाद 'इण्डियन सोसाइटी ऑफ एग्रोनोमी' स्थापित हुई।

सन् 1958 में जब भारत में पहली बार 120 लाख टन गेहूँ से 50 लाख टन की बढ़त से कुल 170 लाख टन गेहूँ पैदा हुआ, तो अमरीकी वैज्ञानिक डॉ. विलियम गाड ने इसे हरित क्रान्ति की शुरुआत कहा, लेकिन 1960 के दशक के मध्यम में मैक्सिको से लाए गए गेहूँ के उन्नत बीजों से भारतीय कृषि वैज्ञानिकों

ने ब्रीडिंग (संकरण) द्वारा नई-नई गेहूँ की अधिक उपज देने वाली प्रजातियाँ विकसित कीं, जिनकी प्रति हैक्टेयर उपज क्षमता 60-65 क्विंटल थी। ऐसी ही स्थिति धान की प्रजातियों की भी रही, जिनसे देश में 1960 के दशक के मध्य में कृषि में 'हरित क्रान्ति' (Green-revolution) आई और परिणामस्वरूप खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता आई, जिसका श्रेय नोबेल पुरस्कार से सम्मानित एकमात्र कृषि वैज्ञानिक डॉ. **नोरमान बोरलॉग** को तो है ही, अपितु डॉ. **एम.एस. स्वामीनाथन** को भी जाता है।

भारत में हरित क्रान्ति के फलस्वरूप फसलों की उत्पादकता में काफी वृद्धि हुई और अभी भी नई तकनीकी से गेहूँ में 2.5 गुनी, धान में 3 गुनी, मक्का में 3. 5 गुनी, ज्वार में 5 गुनी, बाजरा में 5.5 गुनी, उत्पादन में वृद्धि की सम्भावना है।

इस प्रकार भारत के सन्दर्भ में हरित क्रान्ति का तात्पर्य छठे दशक के मध्य में कृषि उत्पादन में उस तीव्र वृद्धि से है, जो ऊँची उपज वाले बीजों (High Yielding Variety Seeds–HYVS) एवं रसायनिक खादों व नई तकनीक के प्रयोग के फलस्वरूप हुई।

भारत में सर्वप्रथम 1960-61 में एक कार्यक्रम 'गहन कृषि जिला कार्यक्रम' (Intensive Agricultural District Programme, IADP) के नाम से देश के सात चुने हुए जिलों में अपनाया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य किसानों को ऋण, बीज, खाद, औजार आदि उपलब्ध कराना एवं केन्द्रित प्रयासों द्वारा दूसरे क्षेत्रों के लिए गहन खेती का ढाँचा तैयार करना था।

1964-65 से इसी प्रकार का एक दूसरा कार्यक्रम 'गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम' (Intensive Agricultural Area Programme, IAAP) देश के अन्य भागों में लागू किया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत विशिष्ट फसलों पर ध्यान केन्द्रित किया गया। यह दोनों कार्यक्रम (IADP तथा IAAP) गहन कृषि से तो सम्बन्धित थे, किन्तु इनका संचालन फसलों की चालू या परम्परागत किस्मों (Traditional Varieties) तक ही सीमित था।

1965-66 तथा 1966-67 में देश में भयंकर सूखा पड़ने के कारण सरकार ने कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए 1966-67 में अधिक उपज वाले बीजों की नई कृषि नीति को अपनाया। कृषि विकास की इस नई नीति में अधिक उपज देने वाली किस्मों के कार्यक्रम (High Yielding Variety Programme–HYVP) के अतिरिक्त, बहुफसली कार्यक्रम (Multiple Crop Programme) को भी सम्मिलित किया गया।

देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के परिप्रेक्ष्य में कृषि में दूसरी हरित क्रान्ति की तत्काल आवश्यकता राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने बताई है। इसके द्वारा ही सन् 2020 तक देश की 30 करोड़ टन की खाद्यान्न आवश्यकता को पूरा किया जा सकेगा। राष्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम ने यह उद्गार 8 जनवरी, 2003 को नई दिल्ली में पौध संरचना पर दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्घाटन करते हुए व्यक्त किए थे।

राष्ट्रपति के अनुसार बढ़ती हुई जनसंख्या के चलते देश में कृषि योग्य भूमि 17 करोड़ हैक्टेयर के मौजूदा स्तर से घटकर सन् 2020 तक 10 करोड़ हैक्टेयर ही रह जाएगी। ऐसी स्थिति में खाद्यान्न उत्पादन को 20 करोड़ टन के मौजूदा स्तर से बढ़ाकर 30 करोड़ टन करना होगा। उत्पादन के इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उत्पादकता को दोगुना करना होगा। इसके लिए ऐसी हरित क्रान्त की तत्काल आवश्य़कता है, जिसमें मिट्टी (Soil) से लेकर विपणन (Marketing) तक कृषि के सभी पहलुओं का समावेश हो। राष्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम ने मौजूदा समय को ही इस दूसरी हरित क्रान्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त बताया है।

6

नव समूह, वर्ग तथा भूमण्डलीकरण
(Neo Groups, Classes and Globalization)

मानव समाज में कभी भी सभी व्यक्तियों की स्थिति अथवा पद एक समान नहीं रहे हैं। इनमें किसी-न-किसी आधार पर हमेशा असमानता पाई जाती रही है। प्राचीनकाल में भारत में सामाजिक संस्तरण वर्ग पर आधारित था। इन्हीं वर्णों से धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था का विकास हुआ जो कर्म के स्थान पर न होकर जन्म पर आधारित है। जाति-व्यवस्था हमारे सामाजिक संस्तरण को किसी-न-किसी रूप में आज की प्रगतिधित्व करती है। वर्ग के आधार पर भारत में सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया अभी अपेक्षाकृत नई है। आज भारतीय समाज में पश्चिमी देशों की तरह ही वर्ग व्यवस्था पनप रही है। आज प्रत्येक भारतवासी किसी-न-किसी वर्ग, जैसे—डॉक्टर, इंजीनियर, लेखक, शिक्षक, व्यवसायी, कृषक वर्ग का सक्रिय सदस्य है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जाति तथा वर्ग सामाजिक स्तरीकरण के दो प्रमुख रूप हैं। जहाँ जाति एक 'बन्द' वर्ग है, वहीं वर्ग व्यवस्था एक 'खुला' वर्ग है। खुलेपन के अभाव में जाति को 'बन्द' वर्ग कहा जाता है। जाति योग्यता पर आधारित न होकर जन्म पर आधारित है। जबकि वर्ग व्यवस्था में खुलापन है, जिससे किसी भी जाति (निम्न जाति) का सदस्य भी अपनी योग्यता के आधार पर डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षक आदि कुछ भी बनकर इन वर्गों में शामिल हो सकता है/और हो भी जाता है। विभिन्न समाजों में स्तरीकरण के ढाँचे

के प्रतिमान अलग-अलग होते हैं। इतना ही नहीं, किसी समाज विशेष के भीतर भी एक समय से दूसरे समय में स्तरीकरण के ढाँचे में विविधता पाई जाती है। स्तरीकरण के प्रतिमान हमेशा स्थिर नहीं रहते हैं।

योगेन्द्र सिंह ने भारत में जाति एवं वर्ग के परस्पर सम्बन्धों की चर्चा करते हुए इस बात पर बल दिया है कि जाति तथा वर्ग एक ही बिन्दु पर मिलते हैं। इसका अर्थ यह है कि जाति और वर्ग आपस में पूर्ण रूप से जुड़े हैं। अगर हम परम्परागत रूप से जाति व्यवस्था को देखें तो यह पाते हैं कि उच्च जाति के लोग सामान्यतः आर्थिक दृष्टि से भी उच्च थे (अर्थात् उच्च वर्ग के थे)। क्योंकि जाति व्यवस्था भारतीय समाज में एक सुदृढ़ व्यवस्था रही है। अतः इसने वर्ग व्यवस्था को अपने नीचे दबाए रखा है और उसे उभरने नहीं दिया है। लोगों की जागरूकता तथा वफादारी जाति के प्रति रही है न कि वर्ग के प्रति।

क्या भारतीय समाज में जाति वर्ग परिवर्तित हो रही है? इस प्रश्न का उत्तर देना सरल है। आज नगरीकरण, औद्योगीकरण, पश्चिमीकरण, संस्कृतिकरण, आधुनिकीकरण, कम्प्यूटरीकरण, वैश्वीकरण, उदारीकरण, आधुनिक शिक्षा के फैलाव, आवागमन तथा संचार के साधनों में विकास के कारण जाति व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। जाति व्यवस्था को कठोर निषेधात्मक प्रवृत्ति ढीली होती जा रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वर्ग व्यवस्था, जिसमें पहले जाति व्यवस्था अपने अन्दर समाए हुए थी, अब उससे पृथक होने लगी है। आज जातियों में सहयोग (जो कि जाति व्यवस्था की सबसे प्रमुख विशेषता रही है) लगभग समाप्त होता जा रहा है। सहयोग का स्थान अब प्रतियोगिता (जो कि वर्ग व्यवस्था की विशेषता है) लेती जा रही है। स्पष्ट है कि स्तरीकरण—जाति तथा वर्ग के स्वरूप और संरचना में भारी परिवर्तन हो रहे हैं। अब, एक व्यक्ति का न केवल वर्ग स्तर बदल रहा है, अपितु एक या दो पीढ़ियों में उसेक जातीय स्तर में भी परिवर्तन हो रहा है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में स्तरीकरण के स्वरूप और संरचना में उतार-चढ़ाव का क्रम चलता रहता है। परिणामस्वरूप प्रत्येक सभ्य समाज में नए समूह और वर्ग बनते रहते हैं। समाज में परिवर्तन की यह दिशा न केवल ग्रामीण क्षेत्रों में अपितु नगरीय तथा औद्योगिक क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ रही है। इस अध्याम में हम सामाजिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में उत्पन्न ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों के नए समूहों तथा वर्गों का वर्णन करेंगे।

सज्जन किसान
(Gentleman Farmer)

हाल के वर्षों में कृषि क्षेत्र में क्रान्तिकारी बदलाव आया है। परम्परागत तरीके से खेती करने वाले किसान अब उच्च कोटि की मशीनों, कल-पुर्जों, बीजों, उर्वरकों का प्रयोग करने लगे हैं। किसान अब परम्परागत खाद्यान्नों के स्थान पर नकदी या व्यावसायिक फसलों (Cash Crops) के उत्पादन की ओर बढ़ रहे हैं। इससे उनकी आमदनी के स्त्रोत बढ़े हैं। फलस्वरूप आज देश में परम्परागत भू-स्वामी वर्ग का स्तर बदल रहा है। पहले, अधिकतर भू-स्वामियों को भूमि केवल अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में मिलती थी। उस समय जमीन की खरीद-फिरोख्त नहीं होती थी क्योंकि भू-बाजार विकसित नहीं था। अब स्थिति एकदम बदल गई है। भूमि-सुधार तथा हरित क्रान्ति के कारण कृषि व्यवस्था में भारी परिवर्तन हुआ है। कृषि प्रौद्योगिकी ने कृषि उत्पादन को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अब भूमि की तुलना में अन्य कृषिजन्य संसाधनों का महत्व बढ़ा है, जैसे—ट्रेक्टर, यान्त्रिक हल, पम्प सेट, थ्रैसर, कीटनाशक छिड़काव के यन्त्रों को आसानी से बाजार से खरीदा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि किसानों का एक नया वर्ग पनप रहा है। इस नए वर्ग में कुशल, दक्ष और अनुभवी लोग सम्मिलित हैं। यह नया वर्ग परम्परागत ऊँची जाति (प्रभु जाति) वाले भू-स्वामियों के वर्ग से सम्बन्धित नहीं है। इस नए वर्ग में अधिकतर वे कर्मठ लोग शामिल हैं जो असैनिक और सेना की सेवाओं से सेवानिवृत्त हुए हैं। इन्होंने सेवानिवृत्ति पर प्राप्त होने वाले धन और जीवन-भर की बचत को अपने कृषि फार्मों को बनाने व विकसित करने में लगाया है। इन कर्मठ सैनिक व असैनिक सेवानिवृतत लोगों को **सज्जन किसान (Gentleman Farmer)** की संज्ञा दी जाती है। इन लोगों को आदर्श कृषि कार्य को देखकर अन्य शिक्षित (कृषि स्नातक) युवा भी कृषि को अपना व्यवसाय बनाने की होड़ में लग गए हैं।

पूँजीपति किसान
(Capitalist Farmer)

स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रत्येक जाति, वर्ग तथा समाज में चेतना का जन्म हुआ है। ग्रामीण समाज के लोग भी जागरूक हुए। वे अपनी आर्थिक स्थिति को अधिक अन्न उपजा कर सुदृढ़ करने के लिए प्रयासरत हैं। साधन-सम्पन्न किसान

हरित क्रान्ति का भरपूर लाभ उठाकर निरन्तर धनाढ्य होते जा रहे हैं। इन धनाढ्य और प्रभावशाली किसानों के पास आधुनिकतम किस्म के मशीनी उपकरण हैं। उन्नत खाद और बीज हैं। सिंचाई के उत्तम साधन हैं। आधुनिक कृषि का वैज्ञानिक ज्ञान भी इन्होंने प्राप्त कर लिया है। इनकी भूमि भी उपजाऊ है और उन्हें कृषि की सभी सुविधाएँ भी प्राप्त हैं। फलस्वरूप इनके खेतों में अत्यधिक उपज होती है। **किसानों का यही वर्ग पूँजीपति किसान** (Capitalist Farmer) **कहलाता है**। इनकी कृषि में पूँजीवादी विकास की प्रवृत्ति साफ नजर आती है। श्रम-आधारित पूँजीवादी कृषि व्यवस्था ने परम्परागत प्रथाओं पर आधारित भूमि सम्बन्धों को बिल्कुल बदल दिया है। किसान अब पारिवारिक फार्म व्यवस्था से हटकर वाणिज्यिक पूँजीवादी फार्म व्यवस्था की ओर मुड़ गए हैं।

पिछले कुछ दशकों से आधुनिक उद्यमी किसानों का एक ऐसा वर्ग विकसित होता जा रहा है जो अपनी विशाल भूमि पर कृषि किराए पर लेकर काम करने वाले श्रमिकों की सहायता से करता है तथा नवीन तकनीकी एवं उन्नत बीजों व उर्वरकों का प्रयोग भी बड़े पैमाने पर करता है। इस वर्ग में अधिकतर वे परिवार सम्मिलित हैं जो भूतपूर्व अर्द्ध-सामन्तवादी भू-स्वामी, उधार देने वाले साहूकार एवं व्यापारी हैं। पहले, ये पूँजीपति किसानों की श्रेणी में नहीं आते थे क्योंकि स्वतन्त्रता से पूर्व कृषि में पूँजीवादी प्रवृत्ति नहीं के बराबर थी। हाल में कृषि क्षेत्र में भूमि-सुधारों के अतिरिक्त कई अन्य शक्तियों के कारण, किसानों का यह वर्ग पूँजीपति किसान की श्रेणी में प्रवेश कर गया है।

यद्यपि देश में पूँजीपति किसान वर्ग का आकार आज भी बहुत छोटा है, तो भी इस वर्ग का उद्‌भव और विकास कृषि आधारित सामाजिक संरचना में हो रहे महत्वपूर्ण परिवर्तनों को दर्शाता है। इस वर्ग के विकास न केवल कृषि में कार्यक्षमता और उत्पादकता बढ़ाई है, अपितु औद्योगिक वृद्धि तथा विकास में भी सहायता की है। उदाहरण के तौर पर, भारत के सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का योगदान काफी अधिक है। इसी प्रकार, भारत के प्रमुख उद्योगों को कच्चा माल कृषि से ही प्राप्त होता है। सूती और पटसन वस्त्र उद्योग, चीनी, वनस्पति तथा बागान उद्योग आदि प्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर हैं। हथकरघा, बुनाई, तेल निकालना, चावल कूटना आदि बहुत से लघु और कुटीर उद्योगों को भी कृषि से ही कच्चा माल प्राप्त होता है। अतः देश के औद्योगिक विकास के लिए भी कृषि महत्वपूर्ण है। इन सबके लिए, कृषि में पूँजीपति किसान वर्ग का भारी योगदान है। दूसरी ओर, इस पूँजीपति किसान प्रवृत्ति से धनी और निर्धन किसानों के बीच दूरी

बढ़ी है। साधनहीन किसान अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को ही मुश्किल से पूरा कर पाते हैं। परिणामस्वरूप, ग्रामीण क्षेत्रों में अशान्ति और तनाव का माहौल बना रहता है।

प्रभावी मध्यम जातीय किसान
(Influential Middle Caste Farmer)

कृषि के ढाँचे में विकास एक जैसा नहीं हुआ है। इनमें क्षेत्रीय विविधता स्पष्ट दिखाई देती है। पंजाब और हरियाणा में हरित क्रान्ति के कारण होने वाले सामाजिक विकास ने पारिवारिक चकों या खेत-खलिहानों को तीव्र गति से विभाजित किया है। पिछले एक दशक के दौरान परिचालित जोत-क्षेत्र के रकबे की संरचना में कटौती हुई है। परिचालित भूमि और परिसम्पत्तियों का वितरण बड़े किसानों के पक्ष में हुआ है। ग्रामीण उद्योगों की अनुपस्थिति के कारण भूमि पर जो दबाव पड़ा है, उसमें औद्योगीकरण की सम्भावना क्षीण हुई है। फलस्वरूप कृषि के क्षेत्र में श्रमिकों की संख्या काफी बढ़ी है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि देश के सभी क्षेत्रों में भूमि-सुधार तथा हरित क्रान्ति का एक-समान प्रभाव नहीं पड़ा है। किसी क्षेत्र विशेष में कुछ विशेष वर्ग के लोगों को दूसरों से अधिक लाभ पहुँचा है। प्रत्येक राज्य में बड़ी जोतों (बड़े खेतों) के स्वामियों ने सबसे ज्यादा मुनाफा अर्जित किया है। दूसरी ओर, छोटे किसानों को लाभ का एक सीमित भाग ही मिला है। इसके बावजूद भी, पूरे देश में मध्यम किसान ही लाभ के असली हकदार बन रहे हैं।

ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने से पहले, हमें मध्यम किसान का अर्थ समझना होगा। **मध्यम किसान सामान्यतः मध्यम जातीय समूहों के होते हैं।** जिन्हें हम मध्यम किसान का नाम दे सकते हैं। मध्यम जातीय समूह जैसा कि शाब्दिक अर्थ से स्पष्ट है कि ये जातियाँ बीच की होती हैं यानि निम्न व अनुसूचित जातियों के ऊपर और ऊंची जातियों से नीचे। यद्यपि मध्यम जातीय सूमह सजातीय समूह नहीं है, फिर भी इनमें कुछ समान विशेषताएँ हैं। समकालीन ग्रामीण भारत में प्रभु जाति की भूमिका से कोई भी इनकार नहीं कर सकता है। कई बार तो गांव की पहचान ही जाति के आधार पर होती है। आज भी कई लोगों को यह कहते सुना जा सकता है कि अमुक गाँव राजपूतों का है, जाटों का है, अहीरों का है, गूजरों का है आदि। वास्तव में मध्यम जातीय समूह डॉ. श्रीनिवास द्वारा प्रतिपादित प्रभु जाति की अवधारणा का ही पर्याय है। इन दोनों श्रेणियों की ज्यादातर विशेषताएँ समान हैं, जैसे–

- स्थानीय जातीय संस्तरण में उनका स्थान ऊँचा होता है।

- अस्पृश्यता तथा भेदभाव जैसी सामाजिक निर्योग्यताएँ इन पर लागू नहीं होती हैं।
- इस श्रेणी की अधिकतर जातियाँ परम्परागत तौर पर कृषक जातियाँ ही होती हैं।
- ये स्वयं खेती करने वाले मध्यम जोतों (खेतों) के स्वामी होते हैं।
- ये प्रत्यक्ष रूप को कृषि कार्यों में भाग लेती हैं।
- स्थानीय स्तर पर जनसंख्या की दृष्टि से इनका बोलबाला होता हैं।
- जबकि 'मध्यम जातीय समूह' और 'प्रभु जाति' के जातीय संस्तरण में इनकी स्थिति एक जैसी नहीं है। एक प्रभु जाति दोनों उच्च या मध्यम–दोनों जातीय समूहों की भी हो सकती है। लेकिन मध्यम जातियों के साथ ऐसा नहीं है।

वास्तव में ये मध्यम जातीय समूह ही प्रभावी समूह ही प्रभावी मध्यम जातीय किसान वर्ग के रूप में सामने आया है। सरकार द्वारा चलाए गए भूमि-सुधार कार्यक्रमों का मुख्य उद्देश्य मध्यस्थों की समाप्ति, भू-स्वामी काश्तकारों के सम्बन्धों को सुरक्षा देना, उच्चतम सीमा निर्धारण द्वारा भूमि का पुनर्वितरण करना तथा सहकारी कृषि का विकास करना था। इस दिशा में जमींदारी उन्मूलन अधिनियम तथा भूमि-सुधारों से सम्बोधित अन्य अधिनियमों का इस वर्ग ने भरपूर लाभ उठाया है। जमींदारी, जागीरदारी जैसे मध्यस्थ वर्गों के उन्मूलन से बड़े पैमाने पर जमीन का हस्तान्तरण हुआ था। इस जमीन के अधिकतर हिस्सों को मध्यम जाति के लोगों ने खरीद लिया था। ऊँची जाति के लोग गाँवों में अपनी कृषि जमीन और सम्पत्ति को बेचकर नगरों जाकर बस गए थे। इस प्रकार सन् 1950 से 1960 के दशक में 'हरित क्रान्ति' के परिणामस्वरूप गाँव-देहातों में अभिनय सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का सूत्रपात हुआ।

कृषि में आधुनिकीकरण और हरित क्रान्ति के चलते मध्यम जातियों की आर्थिक सम्पन्नता बढ़ी है। आर्थिक सम्पन्नता के साथ-साथ राजनीतिक क्षेत्र में भी पैर जमाए हैं। जनसंख्या की दृष्टि से भी इनकी शक्ति बढ़ी है। मध्यम जातियों की जनसंख्या बढ़ने से इनका जनाधार (वोट बैंक) भी काफी बढ़ गया है। पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि जैसे अधिकांश क्षेत्रों में पारम्परिक खेतिहर जातियों (मध्यम जातियों) की सामाजिक-आर्थिक दशा में उल्लेखनीय सुधार हुआ है। इस सामाजिक-आर्थिक विकास के चलते पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के *जाट* पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्सों में *कुर्मी*

और *अहीर* (यादव), गुजरात में पट्टीदार तथा *कुनबी*, महाराष्ट्र में *मराठे* और दक्षिण भारत के कर्नाटक में वक्कालिगा, आन्ध्र प्रदेश में कम्मा और रेड्डी जैसी जातियों ने कृषि के क्षेत्र में अच्छी-खासी तरक्की की है और प्रभु जातियों को चुनौती दी है। इस प्रकार यह मध्यम जाति समूह प्रभावी मध्यम जातीय किसान के रूप में उभरकर सामने आया है।

आज भारत में पश्चिमी देशों के समान ही वर्ग-व्यवस्था पनप रही है। वर्ग-व्यवस्था के पनपने का कारण हमारे समाज की बदलती हुई परिस्थितियाँ हैं। इन परिस्थितियों में जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है—पश्चिमी सम्पर्क, औद्योगीकरण, नगरीकरण, नवीन अर्थव्यवस्था, देश की राजनीतिक स्थिति आदि कारकों का प्रमुख योगदान रहा है। भारतीय समाज मुख्य रूप से गाँवों और नगरों में बँटा हुआ है। स्वाभाविक तौर पर गाँवों और नगरों की सामाजिक-आर्थिक संरचना में भिन्नता है। अब तक हमने ग्रामीण क्षेत्रों के नव समूहों और वर्गों के उद्भव से सम्बन्धित प्रक्रिया की विवेचना की है। अब आगे हम नगरीय और औद्योगिक क्षेत्र में पनप नए समूहों और वर्गों, जैसे—व्यवसायी अभिजात वर्ग और नव मध्यम वर्ग की चर्चा करेंगे।

व्यवसायी अभिजात वर्ग
(Business Elite Class)

आधुनिक भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण आधार वर्ग-व्यवस्था ही है। आज का भारतवासी किसी-न-किसी वर्ग, जैसे—श्रमिक वर्ग, कृषक वर्ग, शिक्षक वर्ग, मिल-मालिक वर्ग, व्यापारी वर्ग, शासक वर्ग, लेखक वर्ग आदि का सक्रिय हिस्सेदार हैं। इन वर्गों में भी एक विशेष प्रकार का वर्ग है, जिसे **'अभिजात-वर्ग'** (Elites) वर्ग कहा जाता है। 'एलीट' शब्द का प्रयोग उस विशिष्ट वर्ग के लिए किया जाता है, जिसे समाज में उच्च स्थिति प्राप्त है। 'एलीट' शब्द का हिन्दी रूपान्तरण 'अभिजात-वर्ग' है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से भारत में उद्यमी या व्यवसायी अभिजात वर्ग का उदय हुआ। वैसे तो ब्रिटिश शासन से पूर्व भी देश में उद्योगपतियों ओर व्यापारियों का एक समूह अस्तित्व में था। लेकिन नया व्यवसायी अभिजात वर्ग अवधि में उभरकर सामने आया। यह वर्ग परम्परागत प्राचीन भारतीय समाज में नहीं पाए जाते थे। इन नवीन वर्गों का उदय पूरे भारत में इस कारण सम्भव हुआ कि उस समय अंग्रेजी शासन-व्यवस्था पूरे देश में छाई हुई थी। सारा देश एक सामान्य राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत आ गया था।

अंग्रेजों के शासनकाल से पहले भारत में परम्परागत रूप से बनिया/वैश्य जाति के लोग ही उद्योग और व्यापार से जुड़े हुए थे। किन्तु जब भारतीय अर्थव्यवस्था का ब्रिटिश व्यवस्था से सम्बन्ध स्थापित हुआ तो अन्य जातियों के लोग भी व्यापारिक गतिविधियों में शामिल हुए। उस समय अधिकतर व्यापारिक संगठन अंग्रेजों के नियन्त्रण में थे। फलस्वरूप भारतीय व्यवसाय मुख्य रूप से अंग्रेजी फर्मों से जुड़ा हुआ था। ये फर्में वास्तव में औद्योगिक संस्थान न होकर व्यापारिक एजेन्ट का कार्य करती थीं। ये फर्में मुख्य रूप से कोलकाता, मुम्बई और चेन्नई क्षेत्रों में व्यवस्थित थीं। यही कारण है कि कोलकाता, मुम्बई और चेन्नई भारत के प्रमुख व्यापारिक तथा औद्योगिक केन्द्रों के रूप में स्थापित हुए। इस समूह के लोग विशेषकर ऊँची जातियों के थे, जैसे—**कोलकाता में मारवाड़ी बनिये, जैन तथा कायस्थों का वर्चस्व था, मुम्बई में पारसी तथा जैनों का और चेन्नई में चेटिट्यारों का।**

बीसवीं शताब्दी के शुरू में भारतीय उद्योग जगत अंग्रेजों को टक्कर देने लगा था। व्यवसायी अभिजात वर्ग में गुजराती, पारसी, जैन और मारवाड़ी प्रभावशाली समूह के रूप में उभर कर आए। समाजशास्त्रियों ने अनपे अध्ययनों में व्यवसायी अभिजात वर्ग की दो प्रमुख विशेषताओं का जिक्र किया है। **पहला,** इस वर्ग के अधिकतर सदस्य पारम्परिक व्यापारिक जातियों के लोग हैं। **दूसरा,** इस समूह का भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार, *"भारत के आधुनिकीकरण में व्यावसायिक अभिजात वर्ग की भूमिका को प्रभावित कर रही है।"* स्वतन्त्रता के पश्चात् विकास कार्यों में निवेश तथा आधुनिकीकरण के फलस्वरूप व्यवसायी अभिजात वर्ग का आकार और उसकी भूमिका में काफी विस्तार हुआ है। इसके अन्तर्गत उन मुद्दों का उल्लेख किया जा सकता है जो विभिन्न प्रतिष्ठानों के पर्यवेक्षण और प्रबन्धन की दृष्टि से आवश्यक है। अब औद्योगिक व्यवसायी समूह अपने व्यवसाय को आधुनिक प्रौद्योगिकी से जोड़ रहे हैं और अपने औद्योगिक का आधुनिकीकरण तथा अपग्रेडशन कर रहे हैं। अब हमारे उद्योगों की तुलना दूसरे देशों के उद्योगों से की जा सकती है। उद्योगों और व्यवसायों का संचालन अब प्रशिक्षित अधिकारियों और कर्मियों द्वारा होता है। इन उद्योगों में अब इंजीनियर, विधि विशेषज्ञ, वैज्ञानिक, आई.आई.टी., एम.बी.ए., एम.सी.ए., बी.सी.ए., चार्टर्ड एकाउण्टेन्टों आदि प्रशिक्षित और सम्बन्धित उद्योग के अनुभवी लोगों की सेवाएँ ली जाती हैं। इस प्रकार नौकरशाही ढाँचे में काफी परिवर्तन हुआ है, जिससे औद्योगिक नौकरशाहों का एक नया वर्ग उभर कर सामने आया है।

नव मध्यम वर्ग
(Neo Middle Class)

आर्थिक उदारीकरण के इस युग में भारत में नव मध्यम वर्ग का सूत्रपात हुआ है। हर क्षेत्र में आधुनिकता का समावेश होने से नए धन्धे, व्यवसाय समाज में आ गए हैं। अब व्यवसाय को विज्ञान के आधार पर समझा जाने लगा है। अकादमिक व्यवसाय, चिकित्सा व्यवसाय, विज्ञान व्यवसाय, तकनीकी तन्त्र व्यवसाय और ऐसे ही ढेरों व्यवसाय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में आ गए हैं। आज समाज में व्यावसायिकता (Commercialization) का ही बोलबाला है। समाज में जितनी अधिक व्यावसायिकता होगी, समाज उतना ही अधिक आधुनिक होगा। व्यावसायिकता का अर्थ **विशिष्टीकरण** (Specialization) से है।

गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक विशिष्टीकरण या व्यावसायिकता होती है। **बी.बी. मिश्र** ने भारतीय मध्यम वर्गों पर अध्ययन करके ख्याति पाई है। उनके अनुसार सरकारी कर्मचारियों, वकीलों, इंजीनियरों, चाटर्ड एकाउण्टेन्टों, कॉलेज-शिक्षकों तथा डॉक्टरों जैसे शिक्षित व्यवसायों के सदस्य विशेष रूप से भारतीय मध्यम वर्गों की श्रेणी में आते हैं। इसी प्रकार व्यापारियों के समूह, आधुनिक व्यापारिक फर्मों के एजेन्ट, बैंक तथा व्यापार के वेतन पाने वाले प्रशासकों एवं मध्यवर्ती स्तर के भू-स्वामी किसानों को भी इसी वर्ग में शामिल कर लिया गया है।

भारत में 1990 में शुरू हुए आर्थिक उदारीकरण ने मध्यम वर्ग को एक बहुत बड़ा दिया है जो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की गिरफ्त में है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने नव मध्यम वर्ग का पोषण किया है। यह नई संस्कृति-लोक संस्कृति बन गई है। अब हाट बाजार, जो छुट्टी के दिन लगता है, में ग्राहकों की संख्या बेतहाशा बढ़ रही है। अभिजनों के स्वाद और व्यंजन बदल रहे हैं। फास्ट-फूड खाने वालों की संख्या बढ़ रही है। अब उत्तर-आधुनिकता में जिस स्तर की संस्कृति विकसित हो रही है, वह पोपुलर और उपभोक्तावादी संस्कृति है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अखबारों, मैगजीनों और टेलीविजन द्वारा अपने उत्पादों को विज्ञापनों के माध्यम से प्रचार व प्रसार करके नए मध्यम वर्गीय वर्ग को आकर्षित करती है। इस प्रकार नए मध्यम वर्ग में दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है।

नव मध्यम वर्ग ने नई लोक संस्कृति को पूर्णतम अपना लिया है। इस नई विचारधारा ने युवा लड़के-लड़कियों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। ये युवा अपने आपको आधुनिकता के बन्धन से मुक्त समझने लगे हैं। इस स्थिति को **प्रतिकूल संस्कृति (Counter Culture)** या **उप-संस्कृति (Sub-Culture)** कह

सकते हैं। अब पर्यावरण की जो भ्रष्ट स्थिति है इसका उत्तरदायित्व आधुनिक समाज का विशेषकर नव मध्यम वर्ग का है। यह वर्ग देश की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के प्रति बिल्कुल बेखबर है। हालांकि, उदारीकरण के प्रणेता ने भारत के भूमण्डलीकरण के लिए इस नव मध्यम वर्ग को एक आदर्श वर्ग के रूप में प्रयोजित किया है।

भूमण्डलीकरण और उदारीकरण
(Globalization and Liberalization)

वर्ष 2000 के पूर्वार्द्ध में दुनिया की अर्थव्यवस्था ने काफी तेजी आई लेकिन भूमण्डलीकरण के लाभों का न्यायोचित वितरण नहीं हो सका। विकासशील देशों की मण्डियों पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव पर ध्यान दिलाने में भारत की भूमिका अग्रणीय रही। वर्ष 2000 के दौरान भारत के व्यापारिक तथा आर्थिक सम्बन्ध काफी बढ़े। इस वित्तीय वर्ष के पहले सात महीनों में भारत के निर्यात में 20.5% वृद्धि हुई। लेकिन **पोखरण परमाणु विस्फोट** के बाद कुछ देशों ने भारत के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिए थे। इसी वर्ष के अन्तर्गत में इन प्रतिबन्धों में ढील दी गई तथा नार्वे, स्वीडन, जर्मनी, डेनमार्क और हालैण्ड ने विकास के क्षेत्र में भरात के साथ पुनः सहयोग शुरू कर दिया। इस सहयोग के फलस्वरूप भारत की भागीदारी विश्व-व्यापार में धीरे-धीरे बढ़ रही है और भारत का भू-मण्डल के अनेक देशों से व्यापारिक व आर्थिक सम्बन्धों का जाल फैलता जा रहा है।

भूमण्डलीकरण का अर्थ
(Meaning of Globalization)

सामान्य तौर पर भू-मण्डलीकरण का अभिप्राय भूमण्डल के विभिन्न देशों के मध्य आर्थिक सम्बन्धों को विकसित करने वाली प्रक्रिया से है। आम तौर पर भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया का सम्बन्ध आर्थिक जगत से माना जाता है। लेकिन सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की यह प्रक्रिया समाज के अन्य क्षेत्रों से भी सम्बन्धित हो सकती है। प्रस्तुत अध्याय में इस प्रक्रिया को हम आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित रखकर इसके अर्थ को स्पष्ट करेंगे।

वास्तव में, भूमण्डलीकरण एक विस्तृत व व्यापाक आर्थिक प्रक्रिया है जिसका क्षेत्र या फैलाव विश्व के सभी देशों व समाजों तक होता है। इसके अन्तर्गत विशेष तौर पर दुनिया के विभिन्न देशों के मध्य पनपने वाले मुक्त

व्यापारिक व आर्थिक सम्बन्धों के अध्ययन व विश्लेषण से होता है।

वस्तुतः भूमण्डलीकरण वैश्वीकरण का ही पर्यायवाची पद है। दोनों का अर्थ एक ही है। कुछ विचारक इसे एक आर्थिक अवधारणा मात्र समझते हैं। उनके लिए भूमण्डलीकरण उदारीकरण है, निजीकरण है और निवेश है। कुछ अन्य विचारक भूमण्डलीकरण का अर्थ सांस्कृतिक आदान-प्रदान के सन्दर्भ में निकालते हैं। और कुछ की दृष्टि में भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण वह वृहद सामाजिक प्रक्रिया है जो सम्पूर्ण मानव-जीवन को अपने अन्दर समा लेती है। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत में यह धारणा बनी हुई है कि कुछ राष्ट्र (राज्य) प्रभुत्वशाली होते हैं और कुछ सर्वोत्तम प्रभुत्वशाली (Superunation State)। ये राष्ट्र/राज्य भूमण्डलीकरण के माध्यम से अपनी अर्थव्यवस्था और संस्कृति को विकासशील राष्ट्र/राज्यों पर थोपना चाहते हैं। ऐसे प्रभुत्वशाली राष्ट्र/राज्यों के लिए वैश्वीकरण एक उपयुक्त और अनुकूल प्रक्रिया है। संयुक्त राज्य अमेरिका इसका एक अच्छा दृष्टान्त है।

भूमण्डलीकरण की अवधारणा
(Concept of Globalization)

भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण की अवधारणा कोई 10 वर्ष पुरानी है पर इसकी लोकप्रियता उत्तर-आधुनिकता (Post-Modernity) से भी अधिक है। **मार्शल मेक्बूहान** के अनुसार **सम्पूर्ण विश्व आज विश्व गाँव (Global Village) का रूप ले रहा है।** इलेक्ट्रोनिक संचार ने सम्पूर्ण संसार को एक सूत्र में बाँध दिया है। इस तरह दुनियाभर के लोग टेलिविजन द्वारा प्रसारित एक दूसरे देश की खबरों, घटनाओं और उनकी संस्कृति की झलक को साथ-साथ देखते हैं। जैसे किसी गाँव के लोग हर निवासी-पड़ोसी और नातेदार को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं, किसी से कोई दुराव नहीं है, वेसे ही दुनियाभर के लोग आज एक दूसरे को जानते हैं। इस प्रकार **मीडिया ने सम्पूर्ण दुनिया को एक छोटा गाँव बना दिया है।** इसी प्रकार आज टोक्यो, फ्रैंकफर्ट, न्यूयार्क, लन्दन, मुम्बई और नई दिल्ली आदि **विश्व नगर** (Global City) के दृष्टान्त हैं।

भूमण्डलीकरण की विशेषताएँ
(Features of Globalization)

आधुनिक युग ही वास्तव में भूमण्डलीकरण का युग है। यह दुनिया के लिए नया नहीं है। इसका प्रारम्भ 16वीं शताब्दी से माना जाता है। लेकिन आज का

भूमण्डलीकरण अतीत के भूमण्डलीकरण से भिन्न है। संयुक्त राष्ट्र संघ विकास कार्यक्रम (UNDP) द्वारा प्रकाशित मानव संसाधन रिपोर्ट में भूमण्डलीकरण की चार विशेषताएँ बताई गई हैं—

(1) **नए बाजार (New Markets)**—विदेशी विनिमय और पूँजी बाजार वैश्वीय स्तर पर जुड़े हुए हैं। ये बाजार 24 घण्टे काम करते हैं। इनके लिए भौतिक दूरिया कोई अर्थ नहीं रखती हैं।

(2) **नए उपकरण (New Tools)**—आज के विश्व में लोगों के लिए नए उपकरण (Tools) आ गए हैं। इनमें—इन्टरनेट लिंक्स, सेल्यूलर फोन्स और मीडिया तन्त्र सम्मिलित हैं।

(3) **नए कर्त्ता (New Actors)**—भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ऐसी है जिसमें कार्यों का सम्पादन करने के लिए कर्त्ता हैं। इन कर्त्ताओं में विश्व व्यापार संगठन (WTO), गैर सरकारी संगठन, रेडक्रास आदि सम्मिलित हैं।

(4) **नए नियम (New Rules)**—अब सारे काम संविदा (Contract) के माध्यम से होते हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ दुनियाभर के राष्ट्र/राज्यों के साथ सीधा व्यापार समझौता करते हैं। हमारे देश में अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनी एनरॉन ने महाराष्ट्र सरकार के साथ बिजली की आपूर्ति के लिए समझौता किया था। इसी तरह के समझौते बिल गेट्स द्वारा संचालित कम्पनी माइक्रोसोफ्ट के विश्व के अनेक देशों के साथ भी हुए हैं और होने हैं। ये कुछ नए नियम हैं जो भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण के आर्थिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों को लागू करने में सहायता देते हैं।

एक आकलन के अनुसार वर्ष 1998 में इन कम्पनियों की कुल बिक्री विश्व व्यापार की करीब 1/3 थी। ये कम्पनियाँ पूरे विश्व को एक बाजार समझती हैं। विदेशी व्यापार की मात्रा को बढ़ाने के लिए कर एवं सीमा-शुल्क को घटाने तथा अन्य बाधाओं को दूर करने के कारण देश की सीमाओं के बाहर व्यापार तेजी से बढ़ रहा है।

भूमण्डलीकरण की क्षमता
(Sphere of Globalization)

भूमण्डलीकरण के प्रणेता भूमण्डलीकरण के दायरे का कुछ इस प्रकार विवचेन करते हैं—

(1) **सार्वभौमीकरण बनाम विशिष्टीकरण** (Universalization Vs

Particularism)—भूमण्डलीकरण आधुनिक सामाजिक जीवन का सार्वभौमीकरण है। इसके अन्तर्गत वैसे ही विशिष्ट वस्तुओं का उत्पादन होता है, जो सारी दुनिया में बेचा जा सके। फास्ट फूड (Fast Food) और अन्य डिब्बा बन्द खाद्य वस्तुएँ आज पूरे विश्व में एक देश से दूसरे में पहुँचाई जा रही हैं। यानी सार्वभौमीकरण हो रहा है। वहीं भूमण्डलीकरण में विशिष्ट वस्तुओं का उत्पादन भी हो रहा है। इन वस्तुओं का खरीदार मुख्य रूप से अभिजात वर्ग (Elite Class) होता है। इन वस्तुओं के उत्पादन में गुणवत्ता का विशेष ध्यान रखा जाता है।

(2) **सजातीकरण बनाम विभेदीकरण** (Homogenization Vs Differentia-tion)—ऊपरी तौर पर भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण एक समान दिखता है। विश्व के सभी राष्ट्रों विशेषकर नगरों में वही विलासतापूर्ण जीवन, भागम-दौड़, पाँच सितारे होटल, चमकीली कारें व सड़कें और चेहरे पर कोस्मेटिक पोती महिलाएँ। कहीं कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, चाहे मुम्बई हो या न्यूयार्क। मध्यम वर्ग की जीवन-शैली भी लगभग एक जैसी ही दिखाई देती है। लेकिन लोग जब एक क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में आते हैं तो जमीन-आसमान का अन्तर दिखाई देता है। भारत में एक एथनिक समूह में, भूमण्डलीकरण के होते हुए भी, दूसरे एथनिक समूह से अन्तर देखने को मिलता है। इस प्रकार भूमण्डलीकरण की यह आवधारणा समानता और सजातीयता को लाती है, जो विभेदीकरण उत्पन्न होने का कारण है। भूमण्डलीकरण की प्रकृति ही गैर-बराबरी की है। इस मायने में भूमण्डलीकरण पूँजीवादी भूमण्डलीकरण भी है।

(3) **एकीकरण बनाम विखण्डन** (Integration Vs Fragmentation)—भूमण्डलीकरण विश्व स्तर की संस्थाओं और संगठनों को जन्म देता है। दुनियाभर में पर्यावरण के क्षरण को रोकने के लिए, महिलाओं के साथ होने वाले भेदभाव पर पाबन्दी लगाने के लिए, वित्तीय सहायता देने वाले संगठन और आन्दोलन उभर कर आ रहे हैं। आतंकवाद के रोकथाम के लिए राष्ट्र/राज्य एक हो रहे हैं। ये सब दृश्य भूमण्डलीकरण द्वारा लाए जाने वाले एकीकरण को बताते हैं। दूसरी ओर, भूमण्डलीकरण विखण्डन को भी प्रोत्साहित करता है। श्रम संगठन एक ही राष्ट्र में विखण्डित देखने को मिलते हैं। भूमण्डलीकरण के प्रभाव के होते हुए भी एक ही धर्म को मानने वाले स्थानीय स्तर पर बँटे हुए नजर आते हैं।

(4) **केन्द्रीयकरण बनाम विकेन्द्रीकरण** (Centralization Vs Decentra-lization)—भूमण्डलीकरण में सामान्यतः शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है। इसी तरह ज्ञान, सूचना, सम्पत्ति और निर्णय शक्ति का भी केन्द्रीयकरण होता है। आज

अमेरिका और यूरोप के समुदाय के पास शक्ति, धन और सूचना का पर्याप्त भण्डारण है। लेकिन दूसरी ओर विकेन्द्रीकरण भी है। लोग स्थानीय समस्याओं को लेकर आन्दोलन करने लगे हैं। हमारे देश में स्वायत्तता के नाम पर नए राज्य बने हैं। बड़े बाँधों के खिलाफ आन्दोलन चल रहे हैं। ये सब विकेन्द्रीकरण की प्रक्रियाएँ हैं।

(5) **सान्निध्यता बनाम समन्वयवाद** (Juxtaposition Vs Syncretization)—भूमण्डलीकरण में समय अ.र स्थान की दूरी कम हो जाती है। दुनियाभर के लोग अपनी जीवन-पद्धति और कार्य-शैली में एक दूसरे के निकट दिखाई देते हैं। जीवन की सान्निध्यता पूर्वाग्रह भी पैदा करती है। लोगों को लगता है कि जैसे भूमण्डलीकरण उनकी सांस्कृतिक पहचान छीन लेगा। वे बेनाम हो जाएँगे। स्टुअर्ट हाल ने अपने एक अध्ययन मे कहा है कि भूमण्डलीकरण द्वारा लाया गया सामाजिक परिवर्तन गैर बराबरी को पनपाता है। इस प्रकार समाज का गरीब वर्ग लम्बे समय तक भूमण्डलीकरण के लाभ से वंचित हो जाता है। समाज ही नहीं, अपितु पूरी दुनिया दो भागों में बँटकर रह जाती है। एक वे देश जो विकसित हैं और दूसरे वे जो विकासशील हैं।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर भूमण्डलीकरण व्यावसायिक भागीदारों के बीच सहयोग तथा भाईचारा बढ़ाता है। सरकार के बीच भी यह सहयोग में बढ़ोत्तरी करता है। इस प्रकार यह राष्ट्रों/राज्यों के बीच उत्पादों और सांस्कृतिक आदान-प्रदान द्वारा विश्व शान्ति और मित्रता का पैगाम लाया है।

भूमण्डलीकरण के परिणाम
(Consequences of Globalization)

विश्व के आर्थिक रंगमंच पर भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की प्रक्रियाओं ने विश्व के आर्थिक विकास की कायापलट ही कर दी है। भारत में भूमण्डलीकरण का प्रारम्भ सन् 1991 में हुआ था। यह नए आर्थिक युग का सूत्रपात था। इस नई अर्थव्यवस्था में **संघीय बाजार अर्थव्यवस्था** (Federal Market Economy) का उदय हुआ। इसमें राज्यों को भी यह अधिकार मिल गया कि केन्द्रीय योजना अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत वे अपनी वित्तीय स्थिति में परिवर्तन कर सकें। इस व्यवस्था में सुधार आता है या खराबी, इसके लिए राज्य स्वयं ही उत्तरदायी हैं। भारत में भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न इस नई अर्थव्यवस्था के परिणामों की एक झाँकी इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

(1) राष्ट्रीय आय में वृद्धि—भूमण्डलीकरण और उदारीकरण ने भारत की राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की है। 1999-2000 तक देश की राष्ट्रीय आय 15,90,301 करोड़ तक पहुँच गई थी। जबकि 1993-94 में यह आय 6,85,912 करोड़ थी। इसी प्रकार देश में प्रति व्यक्ति आय का सूचकांक आधार वर्ष 1993-94 में 100 था जो वर्ष 1999-2000 में बढ़कर 2,082 हो गया था।

(2) उद्योग-धन्धों का विकास—आर्थिक विकास की उच्चदर प्राप्त करने के लिए घरेलू पूँजी निवेश बढ़ाने में विदेशी पूँजी निवेश से काफी मदद मिली है। इसके द्वारा केवल घरेलू उद्योग को ही लाभ नहीं पहुँचा है, वरन् उपभोक्ताओं को उन्नत व तकनीकी, प्रबन्ध कुशलता, मानव व प्राकृतिक संसाधनों का पूरा उपयोग भारतीय उद्योगों को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में स्पर्धात्मक बनाने, निर्यात बाजारों को खोलने, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का सामान और सेवाएँ जुटाने का भी लाभ प्राप्त हुआ है।

(3) कृषि उत्पादन में वृद्धि—भूमण्डलीकरण और उदारीकरण का लाभ कृषि क्षेत्र में भी पहुँच रहा है; कृषि के क्षेत्र में नवीन तकनीकों के द्वारा खाद्यानों का रिकार्ड उत्पादन हो रहा है और देश इस मामले में आत्मनिर्भर हो गया है। देश की आवश्यकता से अधिक अनाजों का निर्यात भी किया जा रहा है। वर्ष 1991-92 में खाद्यान का उत्पादन 1,700 लाख टन था जो वर्ष 1999-2000 में बढ़कर 2,100 लाख टन से भी अधिक हो गया है, कहने का अभिप्राय यह है कि प्रतिकूल मौसम की स्थिति में भी खाद्यानों का उत्पादन निरन्तर बढ़ रहा है और कृषि में हरित क्रान्ति आ गई है।

(4) जीवन की गुणवत्ता—अब इस बात के काफी प्रमाण उपलब्ध हैं कि आर्थिक क्षेत्र में भूमण्डलीकरण और उदारीकरण के कारण तीव्र विकास हो रहा है और इसका प्रभाव गरीबी उन्मूलन पर भी पड़ा है। परन्तु ऐसे विकास के कुछ ऐसे पहलू भी सामने आ रहे हैं जो श्रम विस्थापन कर सकते हैं और श्रम की स्थिति को कमजोर बना सकते हैं। इसका मुख्य कारण भौतिक संसाधनों, मानवीय पूँजी और सूचना के रूप में असमान सम्पन्नता का मौजूद होना है जिससे समाज के सबसे नीचे स्तर के लोग श्रमिक विशेष तौर पर स्त्रियाँ और अन्य सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से उपेक्षित वर्गों जैसे अनुसूचित जातियों, जनजातियों, अल्पसंख्यकों, अन्य पिछड़े वर्गों, विकलांगों आदि को उपलब्ध आर्थिक अवसरों का लाभ उठाने से वंचित रहना पड़ता है। बड़े पैमाने पर आर्थिक विकास होते हुए भी खाद्य उत्पादन तथा वितरण प्रणालियों का रोजगार और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों से

तालमेल न होना ठीक नहीं है। इसलिए जीवन की गुणवत्ता को उन्नत स्तर पर लाने में सफलता नहीं मिल रही है।

(5) परिवहन एवं संचार क्षेत्र में प्रगति—यह भूमण्डलीकरण और उदारीकरण का ही परिणाम है कि आज देश में परिवहन एवं संचार का क्षेत्र लगातार बढ़ता जा रहा है। आज देश में रेलवे स्टेशनों की संख्या 6,853 है। रेलमार्ग की कुल लम्बाई 63,028 कि.मी. है। भारत में सड़कों की कुल लम्बाई लगभग 33 लाख कि.मी. है तथा राष्ट्रीय राजमार्ग 58,112 कि.मी. है। सरकार का लक्ष्य है कि सन् 2007 तक गोल्डन क्वाड्रिलेटरल प्रोजेक्ट'' यानि दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई व कोलकाता को जोड़ना। 8 लेन हाइवे द्वारा 500 आबादी वाले ग्रामों की सड़कों से जोड़ दिया जाएगा। विकासशील देशों में आज भारत के पास सबसे बड़ा जहाजी बेड़ा है। देश का 90% व्यापार समुद्री मार्ग से होता है संचार के क्षेत्र में भारतीय डाक नेटवर्क विश्व का सबसे बड़ा नेटवर्क है। इस समय देश में 1,54,919 डाकघर हैं। दूरसंचार के क्षेत्र में आज भारत में 35,023 टेलीफोन एक्सचेंज हैं तथा 63 लाख लोगों के पास प्राइवेट ऑपरेटरों के सेल्युलर फोन हैं।

(6) निर्धनता अनुपात में गिरावट—भूमण्डलीकरण एवं उदारीकरण के फलस्वरूप राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में सुधार हुआ है। उद्योग-धन्धे के साथ-साथ कृषि उत्पादन में भी वृद्धि हुई है फलस्वरूप देश में निर्धनता के अनुपात में भी धीरे-धीरे गिरावट आ रही है। शिक्षित एवं प्रशिक्षित बेरोजगारों का रोजगार कार्यालय में पंजीकरण कर उन्हें अधिसूचित रिक्तियों की जानकारी प्रदान कर बेरोजगारी दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। इस समय देश में 938 रोजगार कार्यालय बेरोजगारों का पंजीकरण करने में लगे हुए हैं, जिसका परिणाम निर्धनता के अनुपात में गिरावट भी है।

(7) निजीकरण—भूमण्डलीकरण और उदारीकरण का सबसे प्रमुख प्रभाव निजीकरण के रूप में देखने को मिल रहा है। विकसित देशों के विभिन्न उपक्रम निजी संस्थाओं द्वारा चलाए जाते हैं तथा अच्छा लाभ भी कमा रहे हैं। इससे प्रेरित होकर विभिन्न विकासशील देशों में भी निजीकरण की लहर फैल रही है और धीरे-धीरे विभिन्न उपक्रमों का निजीकरण हो रहा है।

(8) शिक्षा में गुणात्मक व तकनीकी सुधार—भूमण्डलीकरण का शिक्षा पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है, खासकर तकनीकी शिक्षा में। आज परिवहन एवं संचार के साधनों में विभिन्न देशों की दूरियों को बहुत कम कर दिया है। आज किसी भी देश में शिक्षा एवं तकनीकी शिक्षा में जो सुधार हो रहे हैं वह बहुत कम

समय में दुनिया के अधिकांश देशों तक पहुँचाए जा रहे हैं। जैसे कुछ वर्ष पहले इन्टरनेट से बहुत कम लोग परिचित थे, लेकिन बहुत कम समय में ही दुनिया के विभिन्न देशों में इसका प्रयोग होने लगा है। कम्प्यूटर का प्रयोग अब अधिकांश लोगों द्वारा होने लगा है।

(9) महिला सशक्तीकरण (जागरूकता)—भूमण्डलीकरण के इस दौर में आज महिलाएँ अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो गई हैं। परिवहन एवं संचार माध्यमों के तीव्र विकास से भी महिलाओं में ज्यादा जागरूकता आई है। आज महिलाओं ने अपने विकास के लिए विभिन्न समितियाँ भी बना ली हैं। आज महिलाएँ हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ-साथ काम कर रही हैं। भारतीय महिलाओं ने भी विश्व में अपनी अलग पहचान बनाई है। **किरण बेदी** को आज कौन नहीं जानता, भारतीय मूल की **कल्पना चावला** अन्तरिक्ष तक पहुँच चुकी थी। भारतीय जनता पार्टी की **सुषमा स्वराज** एक सफल वक्ता के रूप में विख्यात हैं।

(10) विवाह, परिवार, नातेदारी एवं जातिप्रथा में परिवर्तन—भूमण्डलीकरण का उपरोक्त संस्थाओं पर भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। आज विवाह एक धार्मिक संस्कार न रहकर एक सामाजिक उत्सव सा हो गया है। व्यवस्थित विवाहों के स्थान पर प्रेम विवाहों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है, विवाह की उम्र भी अब पहले से अधिक बढ़ गई है, बहुविवाहों के स्थान पर एक विवाह का प्रचलन बढ़ रहा है।

भूमण्डलीकरण ने परिवार की संरचना में भी बहुत अधिक परिवर्तन किया है। अब संयुक्त परिवारों का स्थान एकल परिवारों ने ले लिया है जिससे बच्चों पर परिवार का नियन्त्रण भी कम रह गया है। एकल परिवारों में माता-पिता अधिकांशतः रोजगार में होते हैं इसलिए वह बच्चों को समुचित समय नहीं दे पाते हैं फलस्वरूप बच्चे के सांस्कृतिक विकास में कमी हो रही है।

भूमण्डलीकरण ने नातेदारी प्रथा को भी प्रभावित किया है। कुछ वर्ष पहले परिहार सम्बन्धों का पूरा-पूरा पालन किया जाता था। जैसे-जैसे भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया बढ़ रही है, परिहार सम्बन्धों का विशेष पालन नहीं किया जा रहा है और माध्यमिक सम्बोधन भी समाप्त होते जा रहे हैं। लेकिन परिहास सम्बन्धों पर भूमण्डलीकरण का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है, यह सम्बन्ध पहले की अपेक्षा प्रगाढ़ ही हुए हैं।

भूमण्डलीकरण से जातिप्रथा भी बहुत अधिक प्रभावित हुई है। अब जातिप्रथा के कठोर बन्धन धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे हैं। भूमण्डलीकरण के इस दौर में

औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के कारण सभी जातियों के लोग एक साथ मिलकर काम कर रहे हैं। जहाँ एक समय ब्राह्मण लोग अनुसूचित जाति के लोगों के घरों के अन्दर कभी नहीं जाते थे आज नगरों में उन्हीं के मकानों पर किराए पर भी रह रहे हैं, और एक साथ आना-जाना, खान-पान भी हो रहा है।

(11) वर्गों के स्वरूप में परिवर्तन—भूमण्डलीकरण ने वर्गों के स्वरूप में भी परिवर्तन कर दिया है। 20वीं सदी तक जहाँ प्रमुख तीन वर्ग थे, उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग एवं निम्न वर्ग लेकिन आज वर्गों की संख्या बहुत अधिक हो गई है, हर वर्ग के अनेक उपवर्ग हो गए हैं। जैसे—मजदूर वर्ग, कृषक वर्ग, डॉक्टर वर्ग, शिक्षक वर्ग आदि आय के आधार पर अन्य नए विभिन्न वर्गों का उदय हो रहा है।

उदारीकरण
(Liberalization)

भूमण्डलीकरण और उदारीकरण दोनों सम्बन्धित प्रक्रियाएँ हैं। जैसे-जैसे विश्व के आर्थिक व व्यापारिक क्षेत्र का फैलाव होता है, वैसे-वैसे इन क्षेत्रों में उदारीकरण की प्रक्रिया को भी बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत जब विभिन्न देशों में व्यापार को बढ़ावा देने के लिए, ये देश करों एवं अन्य मामलों में अधिक सुविधाएँ देने लगते हैं तो भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को अधिक बल मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि **उदारीकरण वह विस्तृत व व्यापक प्रक्रिया है जो विश्व के विभिन्न देशों के मध्य व्यापारिक व आर्थिक सम्बन्धों का अधिक विस्तार करने की दृष्टि से भूमण्डल के देशों को परस्पर ऐसी सुविधाएँ प्रदान करने के लिए प्रेरित करती है ताकि मुक्त विश्व व्यापार (Free World Trade) एवं बेहतर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के लक्षण तक पहुँचा जा सके।**

भारत में भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की चुनौतियाँ
(Challenges of Globalization and Liberalization in India)

भारत में भूमण्डलीकरण और उदारीकरण का प्रारम्भ सन् 1991 से माना जाता है। जब नरसिंह राव भारत के प्रधानमन्त्री और मनमोहन सिंह वित्तमन्त्री थे। इससे पहले देश में लोकतन्त्र व समाजवाद के सम्मिश्रण की **'मिश्रित अर्थव्यवस्था'** चल रही थी। सन् 1980 में इन्दिरा गांधी ने समझना शुरू किया कि सरकार द्वारा नियन्त्रित आर्थिक विकास, प्रतियोगिता और इससे होने वाले लाभों से देश को वंचित किए हुए हैं। सन् 1984 में राजीव गांधी ने आर्थिक उदारीकरण

के लिए व्यापक माहौल बनाना शुरू किया तथा प्रयोग के तौर पर कई क्षेत्रों में घोषित और स्वीकृत नीत के खिलाफ विदेशी उत्पादों हेतु भारतीय बाजार खोला। लेकिन सही मायनों में बाजार-नियन्त्रित मॉडल को नीति-निर्देशक का दर्जा सन् 1991 में नरसिंह राव और मनमोहन सिंह की जोड़ी ने दिया था।

आज भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की अर्थव्यवस्था के सामने अनेक चुनौतियाँ हैं। यहाँ हम कुछ प्रमुख चुनौतियों की चर्चा करेंगे—

(1) बाजार शक्तियों और औद्योगिक विकास के मार्ग में आनेवाली बाधाएँ—इस उदारीकरण के तहत खुली अर्थव्यवस्था में जहाँ आर्थिक गतिविधियों पर प्रतिबन्ध नहीं होता वहाँ पर नीतियों का क्रियान्वयन ज्यादा आसान होता है। क्योंकि यह माँग और पूर्ति पर आधारित मुनाफे के द्वारा संचालित होती है। लेकिन फिर भी सरकार का दायित्व है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि बाजार शक्तियों और औद्योगिक विकास के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को दूर करे। 1991 से ही भारत सरकार ने तैयार की गई औद्योगिक नीति, कोटा परमिट, लाइसेन्स राज को चरणबद्ध तरीके से समाप्त करना एवं उत्पादन के मार्ग में आने वाले अवरोधों को पूरी ईमानदारी से समाप्त करने में सतत प्रयत्नशील हैं। इस आर्थिक नीति के दो पक्ष हैं। पहला यह कि समष्टि भावी आर्थिक प्रबन्ध एवं सन्तुलन का है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सरकार सकल घरेलू उत्पादन के सम्बन्ध में कुल राजकोषीय घाटा कम करे, बाह्य खाते में सन्तुलन की स्थिति को सुधारे तथा मुद्रास्फीति को कम करे। हालाँकि उदारीकरण से पहले हमारा भुगतान सन्तुलन घाटा—सकल घरेलू उत्पाद का 3.5% था लेकिन उदारीकरण के बाद यह घटकर एक प्रतिशत से भी कम हुआ। लेकिन इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ जा सकता क्योंकि सरकार अल्प अवधि की ऋण योजनाओं से तो निबट सकती है पर दीर्घ अवधि में इसके दुष्परिणाम ही नजर आने लगते हैं। इसके तमाम उदाहरण देखने को मिल जाएँगे। हम समझ सकते हैं कि वित्तीय क्षेत्र में सरकार ने जितने भी उलट-फेर किए हैं, उससे बजट घाटा और राजकोषीय घाटा लगातार बढ़ता ही जा रहा है तथा मुद्रास्फीति पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है। रुपए की पूर्ण परिवर्तनीयता भी देश में मुद्रा की हालत को लगातार कमजोर करती रही है।

(2) उदारीकरण का दुष्परिणाम—कर्मचारियों की छंटनी देश में उदारीकरण की नीति अपनाने के साथ ही अनेक प्रकार के आर्थिक कार्यक्रम शुरू किए गए। उदारीकरण की नीति अपनाते समय यह मान लिया गया कि देश में व्याप्त प्रत्येक समस्या का समाधान केवल उदारीकरण द्वारा ही सम्भव है। लेकिन आज लगभग

बारह वर्षों के बाद जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि वास्तव में उदारीकरण व वैश्वीकरण के उद्देश्य को ध्यान में रखकर शुरू किए गए आर्थिक सुधार कार्यक्रमों का कोई सकारात्मक प्रभाव हमारी अर्थव्यवस्था पर नहीं पड़ा है। यद्यपि इन दस वर्षों में भारत ने सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में लाभ कमाया है, परन्तु ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जिन पर उदारीकरण की नीति का दुष्प्रभाव पड़ा। इसी नीति के तहत बहुत से उद्योगों में कर्मचारियों की छंटनी हुई, जिसके कारण जिस धनराशि को विकास में खर्च होना चाहिए, वह राशि छंटनी किए गए कर्मचारियों व मजदूरों को क्षतिपूर्ति करने में खर्च हो गई। उदारीकरण के अन्तर्गत हमने आयात को भी उदार बनाया, जिसके कारण हमारे छोटे घरेलू उद्योगों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ चुका है। और अभी तक देश में ऐसी सशक्त व्यवस्था भी नहीं है जो कि हमारे इन छोटे घरेलू उद्योगों को विदेशी सामानों के आयात की स्पर्धा से बचा सकें।

(3) आयात में वृद्धि व निर्यात में कमी—शुरू के पाँच वर्षों के दौरान 1991-92 से 1995-96 तक पूँजी निवेश पहले की अपेक्षा 20% घटा, विदेशी व्यापार घाटे में बढ़ोत्तरी हुई, रुपए का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अवमूल्यन हुआ। जबकि भारत से सेवा शुल्क अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों के मुनाफे तथा ब्याज के रूप में पहले से अधिक पैसा बाहर गया। पिछले दस वर्षों में भारत का व्यापार घाटा लगातार बढ़ने का कारण यह रहा कि उदारीकरण की लहर के चलते आम आदमी की उपयोग प्रवृत्ति पर भी अनेकानेक प्रकार से पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव पड़ा। लोग पश्चिमी संस्कृति का अन्धानुकरण करने अथवा उसे अपनाने के चक्कर में विदेशी सामानों को ज्यादा अहमियत देने लगे हैं, जिससे हमारे आयात पर काफी प्रभाव पड़ा और 1991 के बाद आयात में काफी बढ़ोततरी हुई। लेकिन निर्यात में उसी अनुपात में वृद्धि न होने के कारण व्यापार घाटा निरन्तर बढ़ता गया। इस आयात में वृद्धि होने का सीधा सा अर्थ है कि हमने दूसरे देशों को अधिक भुगतान किया है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि आयात में वृद्धि होने से अर्थात् ज्यादा विदेशी सामानों के भारतीय बाजारों में आ जाने से घरेलू उद्योग-धन्धे प्रभावित हुए हैं। विदेशी माल की उच्च गुणवत्ता तथा सुविधाजनक दाम के कारण आम आदमी ने विदेशी वस्तुओं को प्राथमिकता दी, इससे भी घरेलू उद्योग प्रभावित हुआ।

(4) बेरोजगारी में वृद्धि—किसी भी देश में घरेलू उद्योग व रोजगार के बीच एक घनिष्ठ सम्वन्ध होता है। अगर देश में औद्योगिक इकाइयों की संख्या बढ़ेगी तो निश्चय ही अधिक लोगों को रोजगार मिलेगा। ठीक इसी प्रकार इसका उल्टा भी पूरी तरह से सही है, कि उद्योग-धन्धे कम होंगे, तो रोजगार के अवसर

भी घटेंगे और गरीबी में भी इजाफा होगा। क्योंकि गरीबी और बेरोजगारी में सीधा सम्बन्ध है। भारत में लगभग 36% लोग गरीबी की रेखा के नीचे जीवन-यापन कर रहे हैं। अर्थात् उनके पास जीने के लिए आवश्यक मूलभूत सुविधाओं का नितान्त अभाव है। और आर्थिक सुधार व उदारीकरण के बारह वर्षों में उनकी स्थिति में कोई खास बदलाव नहीं आया है। अर्थात् उदारीकरण की प्रक्रिया ने हमें निरन्तर गरीब और बेरोजगार ही बनाया है।

(5) राजस्व की हानि और विदेशी सामान की भरमार—उदारीकरण की नीति के तहत सीमाशुल्क में कमी की गई। इसके दो प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़े। पहला यह कि कम सीमा-शुल्क होने के कारण सरकार को सीमा-शुल्क से होने वाली आय में कमी हुई और दूसरा प्रभाव यह हुआ कि विदेशी सामान अधिक मात्रा में और कम मूल्य पर हमारे बाजारों में पहुँचने लगा। इससे घरेलू उत्पादकों को भारी परेशानी का सामना करना पड़ा क्योंकि भारत में घटिया तकनीक व पूँजी की कमी के साथ-साथ घटिया ढाँचा होने के कारण उत्पादन लागत काफी अधिक है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है—चीनी सामानों से भारतीय बाजार का पट जाना। चीन अपने उत्पादों को कम दाम पर बाजार में उतार रहा है। भारतीय उत्पाद उनके सामने टिक नहीं पा रहे हैं। चीन में निर्मित वस्तुओं के कारण जो स्थिति बन रही है उसके बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ेंगे।

(6) विनिमय दर में निरन्तर गिरावट—भारत में उदारीकरण की नीति के तहत अनेक प्रकार के सुधार आर्थिक नीति में किए। परन्तु अभी भी मजदूर कानून में कोई ऐसा मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। जब तक कानून और आर्थिक सुधार के लिए उठाए गए कदम घरेलू उद्योगों के हित में नहीं होंगे देश की उन्नति नहीं हो सकती। आज देश का निर्माण उद्योग भी मन्दी की स्थिति से गुजर रहा है—निर्माण उद्योग में मन्दी का सीधा सा प्रभाव उपभोक्ता माँग पर पड़ता है। इससे मध्यम आय वर्ग में चिन्ता दिखने लगी है।

एक और दुष्परिणाम भारतीय अर्थव्यवस्था पर आर्थिक सुधार प्रक्रिया के तहत पड़ा, कि रुपए की विनिमय दर में निरन्तर गिरावट आ रही है। डॉलर के मुकाबले रुपए की विनिमय दर 1991-92 में 18 रुपए के आस-पास थी। यही 1997-98 में 36.16 रुपए और अब 2001 के दौरान और भी घटकर 47 रुपए प्रति डॉलर हो चुकी है। रुपए का निरन्तर अवमूल्यन देश की अर्थव्यवस्था के लिए अच्छा संकेत नहीं है रुपए का अवमूल्यन होने पर अन्य बातों के साथ-साथ महंगाई भी बढ़ती है और महंगाई के कारण गरीबी कम होने के बजाय बढ़ती

जाती है। देश में न तो तकनीकी ज्ञान में वृद्धि हुई है, न पूँजी निवेश में और न रोजगार में ही। इसलिए स्पष्ट है कि उदारीकरण की नीति का विकसित देशों को तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ हो सकता है, परन्तु भारत जैसे विकासशील देश में तो अभी तक कोई सकारात्मक प्रभाव सामने नहीं आया है।

(7) विदेशी कर्ज का बोझ बढ़ा—अब उदारीकरण की नीति में आर्थिक सुधारों का पहला दौर बीत चुका है और दूसरा दौर 2001 से शुरू हो चुका है। इस दौर की शुरुआत और तेज होने की आशा की गई थी, लेकिन देश की सरकार के प्रबन्धक इस बात से चिन्तित हैं कि आर्थिक सुधार के रास्ते पर आगे बढ़ते देश के कदम धीमे हो गए हैं। उससे वर्ष 2001-2002 में आर्थिक विकास दर 6.5% प्राप्त कर पाना कठिन होगा। वित्तमन्त्री द्वारा बजट की घोषणा के समय सीमा शुल्क नीति में परिवर्तन कर दिया गया है। सीमाशुल्क के अनुपात राजस्व को 14% से घटाकर 12% तक कर दिया गया है। इन सबके साथ यदि देश पर बढ़ते विदेशी कर्ज के बोझ को देखा जाए तो यह अधिक सुधारों की शुरुआत में 84 अरब डॉलर था जो आज बढ़कर 7 सौ अरब डॉलर को भी पार कर गया है। इन सबके बीच देश का आम आदमी यही सोचता है कि क्या वह भी खुशहाल हुआ है? देश के प्रबुद्ध वर्ग यह सोचते हैं कि आर्थिक सुधारों के तहत बहुराष्ट्रीय कम्पनियों व विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के उद्यमियों के लिए भारतीय बाजार को जिस तरह फूलों की सेज बनाया गया है उससे देश मात्र कच्चे माल का उत्पादक ही न रह जाए।

(8) केन्द्र और राज्य सरकारें दिवालियापन की ओर—यह निश्चित रूप से स्पष्ट है कि भारत के द्वितीय चरण के आर्थिक सुधार कार्यक्रम, पहले चरण के कार्यक्रम की तुलना में अधिक जटिल व कष्टप्रद हैं। प्रथम चरण के सुधार कार्यक्रम के तहत आर्थिक नियमों में बदलाव लाए गए। वित्तीय क्षेत्र, मुद्रा-बैंकिंग, व्यवसाय वाणिज्य विनिमय दर, विदेशी निवेश, उद्योग आदि से जुड़े नियमों में बदलाव लाया गया। अब उदारीकरण के द्वितीय चरण में विधायी परिवर्तनों की आवश्यकता होगी, जो अधिक कष्टप्रद होगी। यह कहा जा सकता है कि द्वितीय दौर के दौरान आर्थिक व वित्तीय नियमों की जगह आर्थिक व वित्तीय अधिनियमों में परिवर्तन का दौर होगा। देश के वित्तमन्त्री ने पहले ही घोषणा कर दी थी कि जनता को कठोर निर्णयों को झेलने के लिए तैयार रहना चाहिए। और इसी बात को उन्होंने इस प्रकार से भी स्पष्ट किया था कि बिना कड़वी दवा पिलाए अर्थव्यवस्था का सुधार सम्भव नहीं। आज स्थितियाँ और भी गम्भीर होती जा रही

हैं। केन्द्र व राज्य सरकारें लगातार दिवालियेपन की ओर अग्रसर होती जा रही हैं। वित्तीय घाटा सरकार के काबू से बाहर होता जा रहा है। जरूरी वस्तुओं के दामों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। बेरोजगारी इस कदर भयंकर है कि एक पद के लिए औसतन 12,000 अभ्यर्थी आ रहे हैं। किसानों को अपनी फसलों व मूल्य नहीं मिल पा रहा है। परियोजनाओं को चलाने के लिए सरकारी कोष में पैसा नहीं है। शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे बुनियादी क्षेत्र भी आर्थिक तंगी में हैं। राज्य सरकारों के पास कर्मचारियों को देने के लिए वेतन तक नहीं हैं। विदेशों को पूँजी का पलायन बढ़ता जा रहा है। राष्ट्रीय बजट का लगभग 40% हिस्सा कर्जे की अदायगी में खर्च हो रहा है।

(9) बाजार में आयातित कृषि उत्पादों का अम्बार—उदारीकरण के दूसरे दौर की चुनौतियों में 1 अप्रैल 2001 को विश्व व्यापार संगठन से किए गए वायदे के अनुसार भारत सरकार सभी सूचीबद्ध उत्पादों के आयात से मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटा चुकी है। इसे नई आयात-निर्यात नीति के तहत ही किया गया है। मात्रात्मक प्रतिबन्धों को लेकर सबसे ज्यादा चिन्ता किसानों को रही है। पिछले पूरे साल किसान यह शिकायत करते रहे हैं कि आयात पर लगे मात्रात्मक प्रतिबन्धों के हट जाने से बाजार में बहुत से आयातित सस्ते कृषि उत्पाद छा गए हैं। इसके कारण उन्हें अपनी पैदावार का इतना दाम भी नहीं मिल पा रहा है कि खेती का खर्च निकल सके। देश में किसानों की संख्या बहुत है, और इन कारणों से उनकी आर्थिक व राजनीतिक ताकत को पूरी तरह से समाप्त करने की कोशिश की गई है।

उदारीकरण से यही आशय था कि सभी देशों—बड़े या छोटे, अमीर या गरीब को अपनी सीमाएँ खोल देनी चाहिएँ जिससे पैसा, पूँजी, माल तथा सेवाओं का मुक्त प्रवाह हो सके। इससे व्यवस्था में दक्षता आती है और गरीब देशों के विकास का रास्ता खोलती है, ऐसे तर्क खूब दिए गए। लेकिन वास्तविकता यही है कि जिन विकासशील देशों ने यह प्रक्रिया अपनाई है, उनमें से अधिकतर देशों में हालात सुधरने की बजाय बिगड़ गए। विदेशी पूँजी आने से कर्ज का संकट पैदा हुआ। बाहर के सस्ते माल आयात ने घरेलू सामान और उद्योगों को चौपट कर दिया। निर्यात के मोर्चे पर भी हालात खराब हैं। विकासशील देश जिन सामानों को बेचते हैं, उनकी कीमतें गिरी हैं। वस्त्र और कृषि उत्पादों जैसे जिन सामानों के उत्पादन में तीसरी दुनिया के देश अग्रणी हैं, उनके लिए उत्तर के देशों के बाजार बन्द हैं। इससे नतीजा यही है कि अनेक विकासशील देशों में व्यापार घाटा बढ़ रहा है। जिससे वे और भी अधिक कर्ज में डूब रहे हैं। वित्त और वित्तीय

बाजारों के उदारीकरण का नतीजा यह हुआ कि इन देशों में लघु अवधि के निजी विदेशी कर्ज का तेजी से जमाव हो गया। इससे विदेशी वित्तीय संस्थाओं और हेज फण्ड द्वारा घरेलू मुद्राओं और स्टॉक बाजारों में सट्टेबाजी फैल गई। नतीजे के रूप में 1997-99 के वित्तीय संकट ने जो रूस, ब्राजील और अन्य देशों में भी फैल गया, इसने उदारीकरण की साख और छवि बिगाड़ दी।

यदि हमें चीन की तरह से उदारीकरण का लाभ लेना हो तो पहले हमें वित्तीय संयोजन और वित्तीय अनुशासन को सुधारना होगा। इसके साथ ही ऊर्जा क्षेत्र में भी पूरी तरह से सुधार करना आवश्यक होगा तथा अपनी औद्योगिक इकाइयों में कार्य संस्कृति को लाना होगा। पुरानी तकनीक को भी नई उत्कृष्ट तकनीक से प्रतिस्थापित करना होगा और सबसे बड़ी बात अपने उद्योगों को प्रोटेक्शन देना होगा। क्योंकि उनका खून पहले ही बहुत चूसा जा चुका है। अतः उन्हें नए सिरे से अच्छी दवा पिलानी पड़ेगी। सरकार को भी देशहित के लिए अपने उद्योगों को भारी संरक्षण प्रदान करना होगा। यदि सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों में राजनीतिक दखल न हो और उन्हें स्वतन्त्र रूप में कार्य करने दिया जाए तथा श्रमिक कानूनों में उचित सुधार किया जाए तो उदारीकरण का पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है। जहाँ तक निजीकरण का सवाल है तो लाभ अर्जित करने वाली सार्वजनिक इकाइयों का निजीकरण न किया जाए बशर्ते कि वे स्पर्धा में अपने को ऊपर बनाए रखने में सक्षम हों। देश की सरकारों को चाहिए कि सुधार की योजना बनाते समय समाज के गरीब तबके का मुख्य रूप से ध्यान रखें। कहीं ऐसा ही न चलता रहे कि समाज के कुछ लोग आर्थिक रूप से लगातार उन्नत होते रहें और बेचारे गरीब निरन्तर गरीब होते रहें। वास्तविक विकास के लिए उदारीकरण के साथ जनसामान्य की सामाजिक सुरक्षा और शान्ति अत्यावश्यक है। देश का राजनैतिक स्थायित्व तथा राष्ट्रवादी चरित्र भी राष्ट्र की उन्नति में हमेशा सहायक होगा।

7

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन
(Education and Social Change)

आज के आधुनिक गतिशील व यान्त्रिक समाज में शिक्षा की आवश्यकता तथा महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। विश्व के सभी देशों में इसके बढ़ते हुए महत्व और आवश्यकता को तीव्रता से अनुभव किया जा रहा है। शिक्षा व्यक्ति के अनुकूल करने की क्षमता का विकास करती है। उसका सन्तुलित तौर पर समाजीकरण करती है और सांस्कृतिक विरासत को सफलतापूर्वक पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करती है। यह न केवल नए विचारों और मूल्यों को जन्म देती है, अपितु उन्हें शिक्षा के माध्यम को नई पीढ़ी तक प्रसारित भी करती है। इस प्रकार शिक्षा सामाजिक परिवर्तन में एक प्रेरक का कार्य करती है। इस अध्याय में हम शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के परस्पर सम्बन्धों की चर्चा करेंगे।

समाज और शिक्षा
(Society and Education)

सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की भूमिका का अध्ययन व विश्लेषण करने से पूर्व हमें भारतीय समाज और भारत में शिक्षा के स्वरूप को समझना होगा। समाज का अस्तित्व व्यक्ति के जीवन से अधिक लम्बा और विस्तृत होता है। व्यक्ति अपनी आयु पूरी करने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। लेकिन समाज का अस्तित्व बराबर बना रहता है क्योंकि समाज में नए सदस्य जन्म लेते रहते हैं। हर व्यक्ति समाज की किसी एक इकाई से जुड़ा रहता है। उस इकाई में ही उसका

सर्वांगीण विकास होता है। समाज के समूह अपने बच्चों को अनपे रीति-रिवाजों, ज्ञान और कौशल का प्रशिक्षण और जानकारी देते हैं। इस कार्य को शिक्षा द्वारा सम्पन्न किया जाता है। शिक्षा की उत्पत्ति समाज की जरूरतों के अनुरूप होती है।

दुर्खीम के अनुसार, *"शिक्षा वह प्रभाव है जिसे व्यस्क पीढ़ी उन लोगों पर इस्तेमाल करती है जो अभी व्यस्क जीवन के लिए तैयार नहीं है।"* एक बच्चा शिक्षा के द्वारा समाज के आधारभूत नियमों, उपनियमों, चलन, आदर्श और मूल्यों को सीख लेता है। इतना ही नहीं, बच्चा समाज के इतिहास को सीखकर अपने को समाज से भावनात्मक तौर पर सम्बन्धित मानने लगता है। बच्चा पहले अपने माता-पिता से और अपने दिन-प्रतिदिन के क्रिया-कलापों के दौरान परिवार, खेल समूह तथा दूसरे समूहों से कुछ-न-कुछ सीखता है। लेकिन यह सब अनौपचारिक शिक्षा है। असली शिक्षा यानि औपचारिक शिक्षा तो संस्थागत तौर पर विभिन्न कॉलेजों, विश्वविद्यालयों आदि में दी जाती है। शिक्षा देने के मामले में ये सभी संस्थाएँ समाज की एक अनिवार्य जरूरत बन गई हैं। शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार से ही व्यापक स्तर पर ज्ञान का प्रसारण और संग्रह सम्भव हुआ है।

शिक्षा की विशेषताएँ
(Features of Education)

शिक्षा की सहायता से अनेक सामाजिक कार्य सम्पन्न होते हैं। शिक्षा का एक व्यापक क्षेत्र है जो परिवार में समाजीकरण की भूमिका से शुरू होकर आर्थिक संगठन, सामाजिक स्तरीकरण और राजनीतिक संस्थाओं तक पहुँचता है। बच्चा सबसे पहले परिवार में जन्म लेता है। उसका सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध अपनी माँ से होता है। माँ उसे नियमित रूप से खाने-पीने, पहनने व रहने की सीख देती है। माँ और पिता से बच्चे की अधिकतर जरूरतें पूरी होती हैं। परिवार में ही बच्चे को सर्वप्रथम यह ज्ञान होता है कि उसे कौन-कौन से कार्य करने चाहिएं और किन-किन कार्यों को उसे नहीं करना चाहिए। परिवार में ही बच्चा समाजीकरण का पहला पाठ सीखता या पढ़ता है। यह एक सरल समाज का उदाहरण है।

दूसरी ओर, आधुनिक जटिल समाजों में व्यावसायिक ढाँचे में परिवर्तन आने से सामाजिक स्थिति बहुत बदल गई है। बच्चों को विशिष्ट कार्यों तथा जटिल कौशल की शिक्षा परिवार के अन्दर नहीं दी जा सकती है। परिवार में तो बच्चे का प्राथमिक समाजीकरण ही हो पाता है। बाहर की दीन-दुनिया का साक्षात्कार तो औपचारिक शिक्षा के द्वारा ही होता है। इस प्रकार शिक्षण संस्थाएँ–स्कूल, कॉलेज

आदि भी समाजीकरण की महत्वपूर्ण संस्थाएँ हैं। औपचारिक शैक्षणिक संस्थाएँ समाजीकरण के कार्यों को दूसरे रूप में पूरा करती हैं। शिक्षण संस्थाओं में बच्चों का सम्पर्क विभिन्न जाति, धर्म और वर्ग के बच्चों और व्यक्तियों से होता है, जिनसे वह बहुत कुछ सीखता है। कॉलेज में छात्रों को पुस्तकों से अपने विभिन्न प्रदेशों तथा विदेशों के समाज व संस्कृति की जानकारी मिलती है। शिक्षा उसके व्यक्तित्व के विकास में बहुत सहायक है।

शिक्षा, आधुनिकीकरण का भी एक सशक्त साधन है। शिक्षा के प्रसार से साथ-साथ आधुनिकीकरण में भी वृद्धि होती है। आधुनिकीकरण बहुआयामी प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप एक समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं बौद्धिक सभी क्षेत्रों में परिवर्तन होता है। शिक्षा ज्ञान और कुशलता में वृद्धि करती है जो आधुनिकीकरण में सहायक है। शिक्षा प्राप्त करके भी एक व्यक्ति डॉक्टर, इंजीनियर, न्यायाधीश, वकील, भारतीय पुलिस एवं प्रशासनिक सेवाओं में उच्च अधिकारी, प्रबन्धक आदि बन सकता है। शिक्षा प्राप्त करने पर जाति-भेद की सीमा टूट जाती है। डॉक्टर, इंजीनियर आदि बनने पर व्यक्ति की जाति गौण हो जाती है और वह सम्बन्धित वर्ग का सदस्य बन जाता है। इस प्रकार शैक्षणिक व्यवस्था ने सामाजिक स्तरीकरण को बदल कर रख दिया है। जाति व्यवस्था एक बन्द स्तरीकरण है जबकि वर्ग एक खुली व्यवस्था है। शिक्षा के बल पर किसी भी जाति का व्यक्ति वर्ग विशेष का सदस्य हो जाता है।

शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण का भी एक प्रमुख साधन है। नियन्त्रण के द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाया जाता है। शिक्षा के द्वारा ही हम बाल-विवाह, छुआछूत, दहेज जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर कर पाए हैं। इनकी रोकथाम के लिए संवैधानिक अधिनियम लागू किए गए और शिक्षा के द्वारा उनका प्रचार-प्रसार किया गया। शैक्षणिक व्यवस्था से आर्थिक व्यवस्था में भी विविधता आई है। 'मानव संसाधन विकास' ने देश के आर्थिक विकास के लिए शिक्षा को ही एक महत्वपूर्ण माना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शिक्षा न केवल सामाजिक परिवर्तन का कारक है अपितु आधुनिकीकरण का भी एक सशक्त साधन है।

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन
(Education and Social Change)

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन में एक उपकरण के रूप में कार्य करती है। शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान से लोगों के दृष्टिकोण और विचार बदल जाते हैं। इस बदलाव के

कारण समाज में परिवर्तन आवश्यक हो जाते हैं। शिक्षा लोगों को अधिक-से-अधिक रचनात्मक कार्यों में लगाए रखती है। आधुनिक शिक्षा ने लोगों का दृष्टिकोण, अन्धविश्वास, रूढ़िवाद, पुरुषवाद आदि से हटाकर तर्कवाद, प्रगतिवाद और उपलब्धिवाद की ओर मोड़ दिया है। भारतीय समाज में हम अनेक बड़े परिवर्तनों को देख सकते हैं जो कि परिवार, समुदाय, जाति आदि में शिक्षा के प्रसार के कारण हुए हैं। ग्रामीण जीवन भी इससे अछूता नहीं रहा है। आधुनिक शिक्षा ने परम्परागत सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप बदल दिया है।

शिक्षा आधुनिकीकरण का एक महत्वपूर्ण कारक है। आधुनिकीकरण एक बहुआयामी प्रक्रिया है। आज के सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि लोकतन्त्र, शिक्षा-प्रणाली और औद्योगिक प्रगति की शुरुआत प्रायः पश्चिमी देशों में हुई है। इसके परिणामस्वरूप जो सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में पश्चिमी समाजों में परिवर्तन आए, इन परिवर्तनों के जो अन्य देशों में अनुकरण हुए हैं, इसे हम आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के रूप में जानते हैं। शिक्षा आधुनिकीकरण के विस्तार का माध्यम है। शिक्षा के माध्यम से आधुनिकीकरण का यह कार्य कारगर ढंग से चल रहा है।

भारत में शिक्षा तथा आधुनिकीकरण
(Education and Modernization in India)

प्रारम्भिक स्थिति (Early Stage)—प्राचीनकाल के प्रारम्भ से ही भारतीय समाज में एक पूर्ण विकसित शैक्षणिक संस्थाओं की शृंखला देखने को मिलती है। भारतीय संस्कृति में वेद-पुराणों को पढ़ने व शस्त्र विद्या सीखने के लिए गुरु-शिष्य की एक लम्बी परम्परा विद्यमान रही है। प्राचीन भारत में नालन्दा और तक्षशिला जैसी महान विद्यापीठ स्थापित थीं। 18वीं शताब्दी के दौरान बंगाल में नवद्वीप, उत्तर प्रदेश में वाराणसी, उड़ीसा में पुरी और तमिलनाडु में मदुरै व कांची जैसे स्थानों पर कई शिक्षण गए थे। इस प्रकार औपचारिक शिक्षण व्यवस्था की शुरुआत हुई।

परम्परागत भारत में शिक्षा व संस्कृति में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता था। शिक्षा प्रदान करने का कार्य ब्राह्मण करते थे। ब्राह्मण औपचारिक शिक्षक थे और ज्ञान तथा पाण्डित्य के कोष माने जाते थे। उस समय शिक्षा का तात्पर्य समाज एवं संस्कृति से अनुकूलन स्थापित करने से था। शिक्षा में धर्म और नैतिकता के तत्वों की प्रधानता पाई जाती थी। आध्यात्मिक ज्ञान पर विशेष बल दिया जाता था। उस समय शिक्षा व्यवस्था में आदेश की अपेक्षा जीवन पर अधिक ध्यान दिया जाता था। धार्मिक विचारों

का प्रसार तथा पवित्र ग्रन्थों की व्याख्या करना गुरुकुल और विद्यालयों के प्रमुख कार्य होते थे। यह शिक्षा व्यवस्था स्थानीय होने के साथ-साथ वर्ण क्रम पर आधारित थी। ऊँचे वर्णों को उच्च स्थान प्राप्त था। सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन के प्रभाव से आगे चलकर यह व्यवस्था लुप्त हो गई।

मध्य स्थिति (Middle Stage)–17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में, भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रवेश हुआ। अंग्रेजों के भारत में प्रवेश के साथ ही भारतीय समाज में परिवर्तन का युग प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में आधुनिक शिक्षा की आधारशिला रखी गई। ब्रिटिश शासन के दौरान सन् 1935 में एक नई शिक्षा नीति की घोषणा हुई। इस नीति ने उच्च तथा मध्य वर्गों के बीच शिक्षा को केन्द्रित रखा। इसलिए प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में उपयुक्त प्रगति नहीं हो पाई। एक आकलन के अनुसार सन् 1881-82 में 5 से 12 वर्ष की आयु वर्ग के 10 बालकों में एक बालक और 250 बालिकाओं में एक बालिका स्कूल जाती थी। इतना ही नहीं, बीसवीं शताब्दी के शुरू में करीब 90 प्रतिशत लोग इस प्रकार, निरक्षर (अनपढ़) थे। शिक्षा व्यवस्था ने न केवल ऊँचे वर्गों और जन-साधारण के बीच दूरी कायम रखी अपितु उसे और भी बढ़ाया। फलस्वरूप तत्कालीन परम्परागत भारत का सामाजिक सन्तुलन बिगड़ गया।

अन्तिम स्थिति (Final Stage)—ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय शिक्षा अपनी मुख्य धारा से हटकर धीरे-धीरे ब्रिटिश शिक्षा की मुख्य धारा में परिवर्तित होती गई। परिणामतः मध्यम वर्गीय समाज का फैलाव हुआ। इस शिक्षा से मूलतः भारतीय समाज में पश्चिमीकरण का उदय हुआ। प्राथमिक शिक्षा की तुलना में उच्च शिक्षा पर अधिक जोर दिया गया। स्कूलों की अपेक्षा कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के नामांकन बड़ी तेजी से हुए। ब्रिटिश मॉडल के शिक्षा संस्थानों में अंग्रेजी भाषा में विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। कोलकाता, मुम्बई, चेन्नई और दिल्ली विश्वविद्यालय इसके परिणामस्वरूप बने। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पढ़कर एक शिक्षित वर्ग उपजा जो कि शासन को अपनी सेवाएँ नौकरी के रूप में देने के लिए था। इस प्रकार, शिक्षा के माध्यम से आधुनिकीकरण शिक्षित और अभिजात समूहों तक ही सीमित रहा, जिससे ज्यादातर ऊँची जातियों के सदस्य थे।

शिक्षा का आधुनिकीकरण (Modernization of Education)—औपनिवेशिक शासनकाल में शुरू की गई शिक्षा व्यवस्था में बहुत सारे गुण भी थे। ब्रिटिश कालीन शिक्षा व्यवस्था ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था को एक आधार प्रदान

किया और एक दिशा दी जिससे भारत में आधुनिक शिक्षा की नींव रखी गई। आधुनिक शिक्षा ने विज्ञान, प्रौद्योगिक तथा चिकित्सा जैसे कई नए विषयों के द्वार खोले जो कि आधुनिकीकरण के लिए एक उपयुक्त वातावरण बनाने में सहायक हुए। शिक्षण संस्थानों का व्यावसायिकीकरण हो गया। शिक्षा संस्थाओं को प्राथमिक पाठशाला, उच्च माध्यमिक विद्यालयों, महाविद्यालयों (कॉलेजों) और विश्वविद्यालयों की श्रेणियों में बाँट दिया गया। शिक्षा संस्थानों का यही ढाँचा आज तक कायम है।

स्वतन्त्रता और उसके बाद
(Independence and after that)

स्वतन्त्रता के बाद यह भली-भाँति ज्ञात हो गया था कि आधुनिकरण की प्रक्रिया में *शिक्षा* एक अनिवार्य अंग है। यही कारण था कि राष्ट्रीय विकास की कार्य-सूची में शिक्षा सम्बन्धी सुधारों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। फलस्वरूप एक संवैधानिक और नीतिगत ढाँचा तैयार किया गया। देश की पंचवर्षीय योजनाओं में शैक्षणिक विकास पर विशेष ध्यान दिया गया और अनेक कार्यक्रम शुरू किए गए। जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत में पिछले 55 वर्षों के दौरान शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। निम्नलिखित विवरण ये यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाएगा–

(1) साक्षरता दर में भारी वृद्धि (Huge Increase in Literacy rate)–सन् 1948 में देश में लगभग 14 प्रतिशत लोग ही साक्षर थे। तीन बच्चों में केवल एक बच्चा प्राइमरी स्कूल में दाखिल था। वर्ष 1951 में साक्षरता दर 18. 3 प्रतिशत थी जो 1991 की जनगणना में बढ़कर 52.2 प्रतिशत हो गई। अब यह वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार 65.38 प्रतिशत हो चुकी है। पुरुष साक्षरता दर 75.85 प्रतिशत है, जबकि महिलाओं में यह केवल 54.16 प्रतिशत है। इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि भारत में साक्षरता की दर में भारी वृद्धि हुई है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि विगत दशक में पहली बार निरक्षरों की संख्या में लगभग 3.19 करोड़ की कमी आई है। दूसरा, महिला साक्षरता दर 14.87 प्रतिशत बढ़ी है जबकि पुरुषों में यह दर 11.72 प्रतिशत है। साक्षरता दर में वृद्धि के मुख्यतः दो कारण रहे हैं। पहला, सरकार द्वारा प्रायोजित राष्ट्रीय साक्षरता अभियान। इस अभियान को विकेन्द्रित किया गया, जिससे इसकी उपयोगिता बढ़ी। दूसरा, गैर-सरकारी संगठनों की सहभागिता के कारण साक्षरता अभियान अधिक लचीला हो गया है।

(2) प्राथमिक शिक्षा का फैलाव और एकीकरण (Extention of Primary Education and its Integration)—प्राथमिक शिक्षा का फैलाव और समेकन भी प्रशंसनीय कार्य है। प्राथमिक शिक्षा का सार्वभौमीकरण एक राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य सभी तक शिक्षा को पहुँचाने, उन्हें विद्यालय में बनाए रखने की उपलब्धि पर निर्भर है। अब देश की ग्रामीण आबादी के 94 प्रतिशत लोगों के लिए करीब एक किलोमीटर के अन्दर प्राथमिक विद्यालय उपलब्ध हैं। उच्च प्राथमिक स्तर पर 84 प्रतिशत ग्रामीण आबादी के लिए 3 किलोमीटर के अन्दर विद्यालय हैं। प्राथमिक स्तर में दाखिला वर्ष 1950-51 के 42.60 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 1999-2000 में 94.90 प्रतिशत हो गया। इसी तरह प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों की संख्या वर्ष 1950-51 में 2.23 लाख से बढ़कर वर्ष 1999-2000 में 8.39 लाख हो गई है। इस अवधि में इन विद्यालयों में शिक्षकों की संख्या 6.24 लाख से बढ़कर 32.17 लाख हो गई है। प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण के लिए सर्व शिक्षा अभियान के नाम से एक नई योजना मिशन के तौर पर प्रारम्भ की गई है। इस अभियान का उद्देश्य 6 से 14 वर्ष के आयु वर्ग के सभी बच्चों को वर्ष 2003 तक विद्यालय भेजना है जिससे वर्ष 2007 तक वे पाँच बच्चों की प्राथमिक शिक्षा तथा वर्ष 2010 तक आठ वर्षों की विद्यालयी शिक्षा पूरी कर सकें।

(3) माध्यमिक शिक्षा की वर्तमान स्थिति (Present Condition of Secondary Education)—माध्यमिक शिक्षा, प्राथमिक तथा उच्च शिक्षा के मध्य सेतु का कार्य करती है। यह 14 से 18 आयु वर्ग के तरुणों को उच्च शिक्षा में प्रवेश के लिए तैयार करती है। देश में सन् 1999 में 1.10 लाख माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय थे। कुल मिलाकर इन संस्थानों में 272 लाख छात्र नामांकित थे जिनमें 101 लाख बालिकाएँ थीं। इन विद्यालयों में सन् 1999 में 14. 42 लाख शिक्षक थे। सन् 1998 से माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा का समावेश किया गया।

(4) उच्च शिक्षा संस्थानों का विस्तार (Extention of Higher Education Institutes)—उच्च शिक्षा संस्थानों का विस्तार भी काफी हुआ है। स्वतन्त्रता के समय देश में केवल 18 विश्वविद्यालय थे। परन्तु आज विश्वविद्यालयों की संख्या 259 हो गई है। महाविद्यालयों की संख्या 11,089 है तथा 1199 स्वशासी महाविद्यालय हैं। तकनीकी और व्यावसायिक संस्थानों का विकास भी उल्लेखनीय रहा है। वर्तमान में 7,000 शिक्षक शिक्षा महाविद्यालय, 110 पॉलिटेकनिक,

600 प्रबन्धन संस्थान, 550 इंजीनियरिंग महाविद्यालय और 170 चिकित्सा महाविद्यालय हैं।

(5) महिला शिक्षा में सुधार (Improvement in Women Education)—शिक्षा के द्वारा महिलाओं की स्थिति में सुधार के विशेष प्रयास हुए हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि महिला सशक्तीकरण, विकास की प्रक्रिया में उनकी सहभागिता की अनिवार्य शर्त है। बालिकाएँ अब लक्ष्य-समूह बन गई हैं। उसी प्रकार, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के शैक्षणिक विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है। आज भी यदि भारत में साक्षरता के मामले में लिंग-भेद पूरी तरह से व्याप्त है। लेकिन आँकड़े बताते हैं कि भारत में महिलाओं की साक्षरता दर बढ़ी है। स्कूलों में महिलाओं के दाखिले में वृद्धि हुई है। सन् 1961 में प्रौढ़ पुरुषों और महिलाओं की साक्षरता दर के बीच 28-35 प्रतिशत का अन्तर था जो सन् 1997 में घटकर 27.38 प्रतिशत रह गया।

(6) लैंगिक विषमता में बदलाव (Change in Gender Disparits)—20वीं सदी के मध्य तक हमारे देश में महिला साक्षरता का प्रतिशत बहुत कम था, उस समय महिलाओं के साथ अधिक भेदभाव होता था, आज स्थिति बदल रही है, अब महिलाओं में शिक्षा बढ़ने के साथ ही वे आज हर क्षेत्र में पुरुषों के काम कर रही हैं। महिलाओं में शिक्षा प्रसार के साथ ही लैंगिक विषमता में भी बदलाव आ रहा है। अब महिलाएँ धीरे-धीरे आत्मनिर्भर हो रही हैं और इच्छानुसार जीवन-यापन कर रही हैं।

(7) बाल विकास (Child Development)—शिक्षा का बाल विकास पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। देश में शिक्षा के प्रतिशत में वृद्धि से ही बाल विकास की तरफ भी ज्यादा ध्यान दिया गया है। महिलाओं की शिक्षा में उन्नति द्वारा बाल-विकास को प्रोत्साहन मिला है। शिक्षित महिलाएँ बाल विकास को अधिक प्रोत्साहित करती हैं। शिक्षा द्वारा ही समाज में बाल विकास कार्यक्रमों को लागू किया जाता है।

(8) जनसंख्या नियन्त्रण (Control of Population)—जनसंख्या नियन्त्रण में महत्वपूर्ण सकारात्मक प्रभाव है। शिक्षित व्यक्ति ही परिवार नियोजन का सही अर्थ समझकर परिवार नियोजन के आधुनिक साधनों का प्रयोग कर जनसंख्या नियन्त्रण में अधिक सहायक हो सकता है। शिक्षित व्यक्ति ही छोटे परिवार के महत्व को सही अर्थों में समझ सकता है।

(9) अनुसूचित जातियों/जनजातियों की गतिशीलता में वृद्धि

(Enhancement of Mobility of SCs and STs)–शिक्षा के प्रसार के कारण अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के सदस्यों में गतिशीलता बढ़ी है। स्थिति सन्तोषजनक नहीं लेकिन कही जा सकती है। इन वंचित समूहों की समस्याएँ इतनी गहराई तक जा चुकी हैं कि इनका समाधान सामाजिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन के बगैर सम्भव नहीं है, फिर भी दलित वर्गों के लिए समान अवसर के साथ-साथ विशेष अवसर की राष्ट्रीय नीति ने सकारात्मक असर दिखाया है। इन समुदायों के सदस्यों ने शिक्षा के क्षेत्र में काफी सफलता पाई है। साक्षरता बढ़ी है और काफी हद तक प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों के दाखिलों में भी सुधार हुआ है। लेकिन उच्च शिक्षा में इनकी उपस्थिति अभी भी कम है। उच्च शिक्षा के सभी क्षेत्रों में लगभग उुंची जातियों का वर्चस्व कायम है।

(10) अभिजात शिक्षा बनाम जन शिक्षा (Elites Education Vs Mass Education)–भारतीय समाज में शिक्षा के प्रसार से व्यापक परिवर्तन हुए हैं। 'अभिजात शिक्षा' (कुछ लोगों के लिए शिक्षा) से 'जन शिक्षा' (सभी के लिए शिक्षा) की ओर बढ़ने से शैक्षणिक व्यवस्था में असीमित प्रवेश के द्वार खुल गए हैं। वे समूह तथा समुदाय जो शिक्षा से वंचित थे, अब विकास की मुख्य धारा से जुड़ गए हैं। शिक्षा ने न केवल समानता और मानवता जैसे सार्वभौमिक मूल्यों का प्रसार किया है, बल्कि इसने वैज्ञानिक विश्व दृष्टि को भी लोगों तक पहुँचाया है। जन सामान्य के दृष्टिकोण और मनोवृत्ति को बदलने में शिक्षा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक रही है। शिक्षा के गणनात्मक विस्तार ने इस देश के कोने-कोने तक पहुँचा दिया है। इसने शिक्षा के प्रति लम्बे समय तक आ रही जड़ता तथा भेदभाव को झकझोर दिया है। महिलाओं के बीच साक्षरता एवं शिक्षा का असाधारण विकास उल्लेखनीय है। इसके फलस्वरूप महिलाओं के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा भारतीय समाज को आधुनिक बनाने में एक क्रियाशील शक्ति रही है। शिक्षा से लोगों का नजरिया बदल रहा है। शिक्षण संस्थाओं का विकास भी वास्तव में आधुनिकीकरण है। स्वतन्त्रता के बाद भारत में जहाँ शिक्षा में उल्लेखनीय प्रगति हुई है, वहीं दूसरी ओर भारतीय शिक्षा व्यवस्था में समस्याओं की भी कोई कमी नहीं रही है। स्तर, विषय-वस्तु और शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य ऐसी समस्याएँ हैं जो शिक्षा व्यवस्था के मूल में छिपी हुई हैं।

8

जनसंचार और सांस्कृतिक परिवर्तन
(Mass Media and Cultural Change)

जनसंचार सांस्कृतिक गतिविधियों को गतिशील बनाने में अथवा सांस्कृतिक परिवर्तन लाने में प्राचीन समय में क्रियाशील रहा है। जनसंचार के साधन जैसे-जैसे विकसित होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे समाजों की संस्कृतियों में बदलाव आ रहे हैं। पिछले दो दशकों में प्रौद्योगिकी में हुए विकास के फलस्वरूप जनसंचार के गतिशील और प्रभावशाली साधनों का विकास हुआ है। इसलिए इनका प्रभाव समाजों की संस्कृति पर पड़ना स्वाभाविक है। आज के युग में भारत में दूर-दराज के क्षेत्रों में रहने वाले ग्रामीण और आदिवासी लोग भी इन साधनों से विमुख नहीं है। देश के कोने-कोने में जनसंचार के साधनों की चहल-पहल देखी जा सकती है। कहने का आशय यह है कि हम सूचना क्रान्ति युग में रह रहे हैं। दूरसंचार, टेंलीविजन और कम्प्यूटर एक साथ जुड़े गए हैं। इस नई प्रौद्योगिकी में जन-साधारण के जीवन के विविध पक्षों को परिवर्तित करने की भारी क्षमता विद्यमान है। जनसंचार द्वारा सूचना प्रसारण का कार्य होता है।

जनसंचार का अर्थ
(Meaning of Mass Media)

जनसंचार दो शब्दों से मिलकर बना है– *'जन'+संचार';* जन का अभिप्राय जनता अथवा सामान्य नागरिकों से है और संचार का अभिप्राय प्रसार, फैलाव

अथवा सूचना पहुँचाने से है। इस प्रकार शाब्दिक दृष्टि से जनसंचार सामान्य जनों तक सूचना पहुँचाने की एक विस्तृत विधि है अर्थात् जनसंचार एक विस्तृत व व्यापक शब्द है इसके अन्तर्गत सूचना के समस्त साधनों, प्रविधियों, उपकरणों आदि का समावेश से होता है।

आजकल जनसंचार (Mass Media) और जन संवाद (Mass Communication) शब्दों का व्यवहार साथ-साथ हो रहा है। कुछ विद्वानों ने इन दोनों में भेद करते हुए कहा है कि जन संवाद वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सूचनाएँ बहुत से लोगों तक पहुँचाई जाती हैं। दूसरी ओर, जनसंचार इन सूचनाओं को पहुँचाने का साधन है। जन संवाद वह प्रक्रिया है जिसमें सूचना का सन्देश दाता सन्देश प्राप्तकर्ता को अपना सन्देश प्रेषित (transfer) करता है। लेकिन वास्तव में इन जन संवादों का प्रेषण का हस्तान्तरण जनसंचार के साधनों, जैसे—समाचार-पत्र, पत्रिकाओं, टेलीविजन कार्यक्रमों, फिल्मों, कम्प्यूटर, इन्टरनेट, मोबाइल फोन आदि के जाल (Network) द्वारा सम्पन्न होता है।

जनसंचार के साधन या माध्यम
(Means or Medium of Mass Media)

जैसे-जैसे समाज जटिल होता जा रहा है, जनसंचार के नए-नए साधन विकसित होते जा रहे हैं। आज सार्वजनिक सन्देश या सूचना के उत्पादन (production) और प्रसारण (Broadcasting) को जनसंचार कहा जाता है। जनसंचार के इन साधनों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है—

(i) मुद्रित संचार (Printed Media or Press)
(ii) विद्युत संचार (Electronic Media)
(iii) श्रव्य-दृश्य संचार (Audio-Visual Media)

भारत में संचार परिदृश्य शीर्षक के अन्तर्गत आगे हम इन संचार साधनों का विस्तार से वर्णन करेंगे। इससे पहले संचार के सामाजिक प्रकार्यों और संचार की सामान्य आलोचना पर विचार करना अधिक उपयुक्त होगा।

समाज और संचार माध्यम
(Society and Means of Media)

मीडिया यानि संचार माध्यम शासन के सभी अंगों की गतिविधियों तथा दैनिक घटनाओं की सूचना जनता को देता है। जहाँ शासन सम्बन्धी सूचनाओं में

स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, जैसे राजनीति, युद्ध तथा प्राकृतिक आपदा का विवरण होता है, वहीं दैनिक घटनाओं को अन्य दैनिक गतिविधियों के अतिरिक्त मीडिया सम्बन्धी जानकारी भी सम्मिलित होती है। मीडिया संसद व कार्यपालिका को जनता की रुचियों तथा आवश्यकताओं से अवगत कराती है। मीडिया शासन की खामियों को भी उजागर करती है। बड़े-बड़े शहरों में लोग एक-दूसरे से कटे रहते हैं। जनसंचार (मीडिया) उन्हें आसपास की घटनाओं की जानकारी देता है।

आज दूरदर्शन नामक संचार माध्यम लोगों का सिर्फ मनोरंजन ही नहीं करता बल्कि लोगों के सोचने और जीने का ढंग भी बदल रहा है। शहरों-महानगरों में बदलाव की यह प्रक्रिया बहुत तेज है। दूरदर्शन मनोरंजन के साथ ज्ञानवर्द्धन का कार्य भी करता है। दुनियाभर में हो रहे खेलकूदों का आनन्द हम घर बैठे ले सकते हैं। लेकिन आज भूमण्डलीकरण के दौर में दूरदर्शन प्रसारण का विकृत रूप सामने आ रहा है। दूरदर्शन संस्कृति पर हमला कर रहा है। दूरदर्शन पर अमेरिकी संस्कृति का प्रचार-प्रसार हो रहा है। यह हमारे सांस्कृतिक पतन का उदाहरण है जो वास्तव में देश का पतन है।

संचार की बच्चों के समाजीकरण में अहम् भूमिका है। यद्यपि परिवार, समसमूह और विद्यालय सामान्य तौर पर समाजीकरण के प्रमुख घटक हैं। तो भी, जनसंचार बच्चों की मनोवृत्तियों को काफी सीमा तक प्रभावित कर रहा है। उदाहरणार्थ दूरदर्शन जो कि जनसंचार का एक प्रमुख माध्यम है, बच्चों के जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव डाल रहा है। पहले दूरदर्शन या टी.वी. मनोरंजन या समय काटने के लिए देखा जाता था। लेकिन अब बच्चे अपना सारा बहुमूल्य समय जो उन्हें पढ़ाई में लगाना चाहिए, दूरदर्शन देखने में खो देते हैं, नाच के साथ नाचते हैं और हिंसक दृश्यों के साथ हिंसक भाव मन में लाते हैं। नई पीढ़ी के युवा हीरो **रितिक रोशन** बनने के लिए उनका अनुकरण करते हैं, उसके जैसा नाचते हैं और उसे अपना आदर्श मानते हैं। कामुक दृश्यों को देखकर उनमें कामुकता उभरती है। संचार के इस साधन के प्रभाव से हम यथार्थहीन व अतार्किक होते जा रहे हैं।

किसी देश की सांस्कृतिक निरन्तरता को बनाए रखने में संचार का बहुत योगदान होता है। सांस्कृतिक निरन्तरता में स्व संस्कृति जीवित रहती है। तेजी से हो रहे वैश्वीकरण ने आर्थिक व राजनीतिक वैश्वीकरण की अपेक्षा सांस्कृतिक वैश्वीकरण को बहुत अधिक प्रभावित किया है। वैश्वीकरण के युग में संचार के साधनों

ने विश्व भर की संस्कृति का मिलन (Cultural Covergence) कर दिया है। सभी लोग राष्ट्र/राज्यों की सीमाओं को लांघकर एक जैसी संस्कृति को अपनाने लगे हैं। भारत अपने परम्परागत शास्त्रीय संगीत के लिए विश्व-भर में विख्यात रहा है। रेडियो पर इसके निरन्तर प्रसारण द्वारा इस विरासत को जीवित रखने की कोशिश की है। लेकिन अब रेडियो तथा टी.वी. पर पोप म्युजिक तथा आइटम सोंगों की धूम मची हुई है। धीरे-धीरे लोक संगीत और लोक नृत्य लुप्त होते जा रहे हैं।

अनेक विद्वानों, शिक्षा कर्मियों तथा अन्य प्रबुद्ध लोगों ने संचार के इस प्रकार के प्रभावों को दुष्प्रभाव कहा है और उनकी कड़ी आलोचना की है। यहाँ हम जनसंचार के नकारात्मक प्रभावों की चर्चा करेंगे। कुछ प्रमुख नकारात्मक प्रभाव इस प्रकार हैं—

- जनसंचार पलायनवाद को बढ़ावा देता है।
- जनसंचार समाज में निष्क्रियता पैदा करता है तथा जीवन का रचनात्मक और गम्भीर वस्तुओं से ध्यान जुदा करता है।
- जनसंचार व्यक्तिगत रुचियों को महत्वहीन कर उन्हें सांस्कृतिक एकरूपता की ओर मोड़ता है।
- जनसंचार वस्तुओं को बेचने के लिए विज्ञापनों में महिलाओं को अश्लील रूप में पेश करता है।
- जनसंचार यथार्थता को छुपाता है और समाज व संस्कृति की गलत तस्वीर प्रस्तुत करता है।

जनसंचार के इन नकारात्मक पक्षों के बावजूद आधुनिक समाज में जनसंचार की बढ़ती रफ्तार को रोकना सम्भव नहीं है। हमें उनके साथ सामंजस्य बिठाना होगा।

भारत में संचार का परिदृश्य
(Scenerio of Media in India)

भारत में लोगों को स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करने के साथ-साथ राष्ट्रीय नीतियों और कार्यक्रमों के प्रति जागरूक बनाने में जनसंचार की महत्वपूर्ण भूमिका है। जनसंचार लोगों को राष्ट्र निर्माण के प्रयासों में भागीदारी में मदद करता है। सूचना, प्रसारण और फिल्म क्षेत्रों के विकास और नियमन का दायित्व सूचना और

प्रसारण मन्त्रालय का है। प्रसारण के क्षेत्र में प्रसार भारती है जिसे 1997 में अधिनियम पारित करके गठित किया गया था। दूरदर्शन तथा आकाशवाणी इसके अन्तर्गत काम करते हैं। इसके अलावा, देश भर में करीब 100 निजी चैनल और केबल नेटवर्क प्रसारण क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। सूचना क्षेत्र में समाचार-पत्र हैं जिनके कामकाज पर भारतीय प्रेस परिषद नजर रखती है।

इसेक अलावा सरकार की मीडिया इकाइयाँ भी हैं, जैसे—पत्र सूचना कार्यालय, विज्ञापन और दृश्य प्रसार निदेशालय, प्रकाशन विभाग, क्षेत्रीय प्रचार निदेशालय, गीत एवं नाटक प्रभाग, फोटो विभाग और गवेषणा, सन्दर्भ एवं प्रशिक्षण प्रभाग। फिल्म निर्माण गैर-सरकारी क्षेत्र में है। सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आई अभूतपूर्व क्रान्ति के परिणामस्वरूप देश के सभी प्रकार के संचार साधनों, जैसे—मुद्रित, विद्युत तथा श्रव्य-दृश्य माध्यमों में भारी विकास हुआ है। अब हम इन संचार साधनों के परिदृश्य पर अलग-अलग विचार करेंगे।

मुद्रित संचार
(Printed Media or Press)

जैसा कि नाम से विदित है कि मुद्रित संचार के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के समाचार-पत्र तथा पत्रिकाएँ सम्मिलित हैं। प्रेस और पुस्तक अधिनियम 1967 के प्रावधानों और उनके अन्तर्गत बनाए गए नियमों के अनुसार भारत के समाचार-पत्रों के पंजीयक, जिसे प्रेस रजिस्ट्रार कहा जाता है, जिसे प्रतिवर्ष 30 सितम्बर से पहले सरकार को वार्षिक रिपोर्ट देनी होती है।

प्रेस रजिस्ट्रार द्वारा जारी वर्ष 2001 की रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रकाशित समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं की संख्या 51,960 थी, जबकि वर्ष 2000 में यह संख्या 49,145 थी। वर्ष 2001 में 5,638 दैनिक, 348 सप्ताह *में दो अथवा* तीन बार प्रकाशित होने वाले, 18582 साप्ताहिक, 6881 पाक्षिक, 14,634 मासिक, 3,634 त्रैमासिक, 469 वार्षिक और 1,774 अन्य पत्र-पत्रिकाएँ हो रही थीं। वर्ष के दौरान 101 भाषाओं और बोलियों में समाचार-पत्र प्रकाशित हुए। सबसे अधिक अखबार हिन्दी में 20,589 प्रकाशित हुए और उसके बाद अंग्रेजी में 7,596 तथा मराठी में 2,943 प्रकाशित अखबारों का स्थान रहा। कश्मीरी को छोड़कर सभी प्रमुख भाषाओं में दैनिक समाचार-पत्र प्रकाशित हुए। सभी राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों से समाचार-पत्रों का प्रकाशन हो रहा है। वर्ष 2001 में सबसे अधिक अखबार 8,397 उत्तर प्रदेश से

प्रकाशित हुए। उसके बाद दिल्ली से 6,926, महाराष्ट्र से 6,018 तथा मध्य प्रदेश में 3,55 का स्थान रहा। दैनिक समाचार-पत्रों के प्रकाशन के मामले में उत्तर प्रदेश ने 873 सबसे अधिक दैनिक प्रकाशित करने वाले राज्य का दर्जा बरकरार रखा, उसके बाद महाराष्ट्र 573 और कर्नाटक 479 का स्थान रहा। **महाराष्ट्र से सन् 1882 से प्रकाशित हो रहा 'बाम्बे समाचार' देश का सबसे पुराना अखबार** है। प्रेस रजिस्ट्रार की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2001 में देश में अखबारों की कुल प्रसार संख्या 11,82,57,597 प्रतियों की रहीं।

मुद्रित संचार को विभिन्न प्रकार की समाचार एजेन्सियों ने मजबूती प्रदान की है। प्रमुख समाचार एजेन्सियाँ इस प्रकार हैं–

(1) दि रजिस्ट्रार ऑफ न्यूजपेपर्स इन इण्डिया (R.N.I.)–समाचार-पत्रों को अखबारी कागज के आवंटन के लिए इस एजेन्सी की स्थापना सन् 1956 में हुई थी। कोटे से अखबारी कागज लेने के लिए सभी समाचार-पत्रों तथा पत्रिकाओं को आर.एन.आई. के कार्यालय में अपना पंजीकरण कराना पड़ता है।

(2) प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया (P.T.I.)–समाचार एजेन्सी समाचार-पत्रों को टेलीप्रिन्टरों द्वारा समाचार सेवा मुहैया कराती है। यह भारत की सबसे बड़ी समाचार एजेन्सी है। इसकी स्थापना 27 अगस्त, 1947 को हुई और इसने 1 फरवरी, 1949 से अपनी सेवाएँ आरम्भ कर दी थीं। पी.टी.आई. अंग्रेजी और हिन्दी में अपनी समाचार सेवाएँ दे रही है। **भाषा एजेन्सी की हिन्दी समाचार सेवा है।** पी.टी.आई. की अब अपनी उपग्रह वितरण प्रणाली है।

(3) यूनाइटेड न्यूज ऑफ इण्डिया (U.N.I.)–इस न्यूज एजेन्सी की स्थापना 21 मार्च, 1961 को हुई थी। भारत और विदेशों में स्थित अपने 76 समाचार ब्यूरो के साथ यू.एन.आई. आज एशिया की सबसे बड़ी समाचार एजेन्सियों में से एक है। यू.एन.आई. ने मई 1981 में एक पूर्ण भारतीय भाषा समाचार एजेन्सी, हिन्दी में **यूनीवार्ता** शुरू की। इसके 10 वर्ष बाद दुनिया में पहली बार टेलीप्रिन्टर के जरिए उर्दू समाचार भेजने के लिए उर्दू सेवा शुरू की शुरुआत हुई।

(4) प्रेस काउन्सिल ऑफ इण्डिया (P.C.I.)–प्रेस परिषद की स्थापना समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने और भारत में समाचार-पत्रों और समाचार एजेन्सियों के स्तर को बनाए और उसमें सुधार के लिए की गई है। वर्ष 2000-01 के दौरान परिषद को 1250 शिकायतें मिलीं जिनमें से 390 प्रेस ने दायर की थीं और 860 प्रेस के विरुद्ध दायर की गई थीं। 1175 मामलों का निपटारा किया गया।

(5) प्रकाशन विभाग (Publication Division)–प्रकाशन विभाग देश के सबसे बड़े प्रकाशन संस्थानों में से एक है। यह विभाग राष्ट्रीय महत्व के मामलों के बारे में पुस्तकें और पत्रिकाएँ प्रकाशित करता है तथा उनकी उचित मूल्य पर बिक्री करता है। प्रकाशन विभाग अंग्रेजी, हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं में 21 पत्रिकाएँ निकालता है। 'योजना', 'कुरुक्षेत्र', 'बाल भारती', 'आजकल', 'एम्प्लायमेन्ट' आदि उनमें से प्रमुख हैं।

(6) प्रेस सूचना ब्यूरो (P.I.B.)–ब्यूरो सरकार की नीतियों, कार्यक्रमों और उपलब्धियों के बारे में सूचना देने वाली प्रमुख एजेन्सी है। इसका मुख्यालय दिल्ली में है। इसके आठ क्षेत्रीय कार्यालय मुम्बई, चेन्नई, चण्डीगढ़, कोलकाता, लखनऊ, गुवाहाटी, भोपाल, हैदराबाद में हैं। इस केन्द्र में दूरसंचार केन्द्र, संवाददाता सम्मेलन-कक्ष और कैफेटेरिया (अल्पाहार गृह) जैसी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

विद्युत संचार
(Electronic Media)

प्रसार भारती देश में सार्वजनिक प्रसारण सेवा है और आकाशवाणी तथा दूरदर्शन इसके दो घटक हैं, ये दो घटक ही विद्युत संचार के दो प्रमुख साधन हैं।

I. आकाशवाणी (All India Radio)–भारत में रेडियो प्रसारण की शुरुआत पिछली सदी के बीस के दशक में हो गई थी। पहला कार्यक्रम 1923 में 'रेडियो क्लब ऑफ बम्बई' द्वारा प्रसारित किया गया था। इसके बाद 1927 में प्रसारण सेवा का गठन मुम्बई और कोलकाता में प्रयोग के तौर पर किया गया। 1930 में सरकार ने ट्रांसमीटरों को अपने नियन्त्रण में ले लिया और भारतीय प्रसारण के नाम से उनका संचालन प्रारम्भ किया। 1936 में इसे आकाशवाणी (All India Radio) नाम दिया गया। 1957 में पुनः इसका नाम 'आकाशवाणी' रखा गया। अब तक 130 फ्रीक्वेन्सी मॉड्यूलेशन (एफ.एम.) ट्रांसमीटर (रेडियो स्टेशन) स्थापित हो चुके हैं। भारत 24 भाषाओं और 146 बोलियों में प्रसारण करता है। आकाशवाणी 'बहुजन हितायः बहुजन सुखाय' के लक्ष्य को ध्यान में रखकर कार्य करता है।

इस समय देश में आकाशवाणी के 208 रेडियो स्टेशन तथा 327 ट्रांसमीटर हैं। जिनमें 149 मीडियम वेब के, 55 शार्ट वेब और 130 एफ.एम. ट्रांसमीटर हैं। देश में 28 मई, 1995 से एफ.एम. चैनल तथ 25 फरवरी, 1998 से ऑल इण्डियो

रेडियो न्यूज ऑन फोन सेवा भी उपलब्ध है। अब इसे इन्टरनेट से भी जोड़ दिया गया है। भारत में राष्ट्रीय स्तर पर प्रसारण सेवा का क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से 90. 6 प्रतिशत तथा जनसंख्या की दृष्टि से 98.8 प्रतिशत तक पहुँच चुका है।

II. दूरदर्शन (D.D.)–भारत की राष्ट्रीय प्रसारण सेवा दूरदर्शन विश्व के सबसे बड़े स्थानीय प्रसारण संगठनों में से एक है। दूरदर्शन का पहला प्रसारण 15 सितम्बर, 1959 को आकाशवाणी भवन, नई दिल्ली में हुआ था। 1965 में हिन्दी में समाचार बुलेटिन के साथ इसका नियमित प्रसारण प्रारम्भ हुआ। भारत में उपग्रह टेक्नोलॉजी से सम्बन्धित पहला प्रयोग 1975-76 में सेटेलाइट इंस्ट्रक्शनल टेलीविजन एक्सपेरिमेन्ट (साइट) कार्यक्रम के अन्तर्गत किया गया था। सामाजिक शिक्षा के लिए इस तरह की आधुनिक प्रौद्योगिकी उपयोग करने का विश्व में यह पहला प्रयास था। 1972 में देश का दूसरा टेलीविजन केन्द्र मुम्बई में खोला गया। इसके बाद 1973 में श्रीनगर, अमृतसर, कोलकाता तथा चेन्नई में खोले गए। 1975 में लखनऊ में टेलीविजन केन्द्र खुला। अप्रैल 1976 में दूरदर्शन को ऑल इण्डिया रेडियो से अलग करके एक स्वतन्त्र विभाग बना दिया गया। रंगीन प्रसारण की शुरुआत 1982 में नई दिल्ली में एशियाई खेलों के दौरान हुई। इसके बाद दूरदर्शन ने तेजी से देशभर में स्थानीय प्रसारण के लिए ट्रांसमीटर लगाना शुरू किया। 1984 में दिल्ली में इसमें एक और चैनल डीडी मेट्रो जोड़ा गया। इसी प्रकार 1999 में, भारत ही नहीं विश्व भर के करोड़ों खेल प्रेमियों की जरूरतें पूरी करने के लिए डीडी स्पोर्ट्स चैनल किया।

आज देश में करीब 8.2 करोड़ परिवारों में टीवी सेट उपलब्ध हैं। टेलीविजन रखने वाले 4.2 करोड़ परिवारों, यानि करीब 51 प्रतिशत परिवारों में उपग्रह से कार्यक्रम देखे जाते हैं। इस समय दूरदर्शन अपने 1042 स्थलीय ट्रांसमीटरों के जाल द्वारा देश की आबादी के 87 प्रतिशत और 70 प्रतिशत भौगोलिक क्षेत्र तक अपने पैर फैला चुका है। देश के 49 शहरों में इसके प्रोडक्शन स्टूडियो हैं। विभिन्न दूरदर्शन केन्द्रों से भिन्न-भिन्न भाषाओं में शैक्षणिक टेलीविजन कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। 26 जनवरी, 2000 से मानव संसाधन विकास मन्त्रालय के सहयोग तथा इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (IGNOU) के माध्यम से दूरदर्शन पर एक विशेष शैक्षिक चैनल *डी.डी. ज्ञानदर्शन* शुरू किया गया है। इसी प्रकार, दूरदर्शन ने 14 मार्च, 1995 को अपना अन्तर्राष्ट्रीय चैनल शुरू करके विश्व के लिए अपने दरवाजे खोले। इस चैनल को पहली डी डी वर्ल्ड कहा जाता है, जिसे

1 मई, 2002 से नया नाम डी डी इण्डिया दिया गया है। 26 जनवरी, 2002 को 'ऐजुटेनमेन्ट' यानी शिक्षा और मनोरंजन का नया दूरदर्शन चैनल *डी डी भारती* शुरू किया गया। इसके अलावा पूरे देश में करीब 100 से अधिक निजी टी.वी. चैनल और केबल नेटवर्क हैं जो हिन्दी तथा अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में अपने कार्यक्रम प्रसारित करते हैं। दूरदर्शन पर व्यावसायिक विज्ञापनों की शुरुआत 1 जनवरी, 1976 से हुई थी।

श्रव्य-दृश्य संचार
(Audio-Visual Media)

जनसंचार का सबसे लोकप्रिय माध्यम फिल्में रही हैं। भारत में फीचर फिल्मों का निर्माण 1912-13 से हो रहा है। **आर.जी. टोर्नी** ने **ए.जी. चित्रे** के साथ मिलकर 1912 में **'पुंडलिक'** बनाई थी, जबकि **दुंडीराज गोविन्द फालके** (1870-1944) ने 1913 में *'राजा हरिश्चन्द्र'* का निर्माण किया था। **आर्देशीर ईरानी** (1886-1969) ने जब 1931 में *'आलमआरा'* बनाई तो मूक फिल्मों के युग का स्थान सवाक फिल्मों ने लिया था। फिर भी मूक फिल्मों का निर्माण 1934 तक जारी रहा। भारत में वर्ष भर में दुनिया के सब देशों से अधिक फीचर फिल्में बनाई जाती हैं।

भारत में केन्द्रीय चलचित्र प्रमाणन बोर्ड द्वारा प्रमाणित किए जाने के बाद ही कोई फिल्म दिखाई जा सकती है। बोर्ड चलचित्र अधिनियम 1952, चलचित्र (प्रमाणन) नियम, 1983 के प्रावधानों तथा इस सन्दर्भ में केन्द्र सरकार द्वारा जारी निर्देशों के अनुसार फिल्मों की प्रमाणन के लिए जाँच करता है। 2001 में बोर्ड ने 1013 भारतीय फिल्मों और 248 विदेशी फीचर फिल्मों का प्रमाणन किया। इसके साथ ही 1099 भारतीय और 200 विदेशी लघुचित्रों, 97 भारतीय वीडियो फीचर फिल्मों और 47 विदेशी वीडियो फीचर फिल्मों, 402 भारतीय वीडियो लघु फिल्मों और 187 विदेशी वीडियो लघुचित्रों को भी प्रमाणित किया है। फिल्म प्रमाणन अपील प्राधिकरण (एफ सी ए टी) की स्थापना मार्च, 1984 में की गई थी। इसका मुख्यालय नई दिल्ली में है और यह केन्द्रीय चलचित्र प्रमाणन बोर्ड के फैसलों के खिलाफ दायर की गई अपीलों की सुनवाई करता है।

फिल्म प्रभाग की स्थापना 1948 में स्वतन्त्र भारत की उपलब्धियों को भारतीय रजतपट पर रिकार्ड, प्रचारित और संरक्षित करने के लिए की गई थी। फिल्म प्रभाग

हिन्दी और अंग्रेजी के अलावा भरात की सभी क्षेत्रीय भाषाओं में फिल्मों का निर्माण करता है और उन्हें डब भी करता है। वर्ष 2001-02 के दौरान प्रभाग ने 84 फिल्मों और वृत्तचित्रों का निर्माण किया, जिनमें 5 फिल्में पूर्वोत्तर तथा 7 फिल्में महिलाओं को अधिकार प्रदान करने से सम्बन्धित थीं। राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम लिमिटेड की स्थापना 1975 में हुई थी। 1980 में भारतीय चलचित्र निर्यात निगम और फिल्म वित्त निगम के विलय के बाद इसका पुनर्गठन किया गया। इस निगम का मुख्य उद्देश्य भारत में सिनेमा की गुणवत्ता में सुधार लाना और श्रव्य-दृश्य और सम्बन्धित क्षेत्रों में आधुनिक प्रौद्योगिकी को विकसित करना है। भारत का 31वाँ अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह 10 जनवरी, 2000 को नई दिल्ली में आयोजित किया गया था। विज्ञापन और दृश्य प्रचार निदेशालय भारत सरकार की मल्टी मीडिया (बहु-प्रचार माध्यम) विज्ञापन एजेन्सी है। वर्ष 2001-02 में निदेशालय ने 17,700 से अधिक विज्ञापन जारी किए।

सूचना, जनसंचार और सांस्कृतिक परिवर्तन
(Information, Mass Media and Cultural Change)

जनसंचार से संस्कृति अछूती नहीं रही है; संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में जनसंचार का विस्तृत और व्यापक प्रभाव देखने को मिल रहा है। हमारे परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों और मान्यताओं में तेजी से बदलाव आ रहा है। संस्कृति के भौतिक और अभौतिक पक्षों में भी परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं। आधुनिक समय में जनसंचार के द्वारा जो महत्वपूर्ण सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं और हो रहे हैं। विकास तथा परिवर्तन में सूचना एक महत्वपूर्ण घटक है। जनसंचार के द्वारा नए विचारों का प्रसारण परिवर्तन के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करता है। सूचना लोगों के मानसिक ज्ञान की सीमा का विस्तार करता है। उन्हें ऊँचा उठने के लिए प्रोत्साहित करता है।

प्रेस, समाचार-पत्रों को मुद्रित कर जन-जन तक पहुँचाता है जिसमें दुनियाभर की दैनिक घटनाएँ छपी होती हैं। आज समाचार-पत्र हमारे जीवन के अंग बन गए हैं। समाचार-पत्र अब केवल नगरीय क्षेत्रों में ही नहीं, अपितु ग्रामीण क्षेत्रों में भी लोकप्रिय हैं। चाय की दुकान, ढाबों, नाई की दुकान पर एक अखबार की प्रति को अनेक लोग पढ़ते देखे जा सकते हैं। वास्तव में समाचार-पत्र लोकतन्त्र का सशक्त पहरेदार है। इसी के माध्यम से लोग अपनी इच्छा, विरोध और आलोचना प्रकट करते हैं। समाचार-पत्र एक ओर जनमत को वाणी देते हैं, तो दूसरी ओर वे

जनमत भी तैयार करते हैं। टेलीविजन भी मनोरंजन तथा सामयिक सूचना के प्रसारण का सामान्य स्रोत बन चुका है। इस प्रकार, जनसंचार की बढ़ती लोकप्रियता लोगों के जीवन में क्रान्ति और नए-नए बदलाव ला रही है।

प्रेस (Print Media) तथा रेडियो व टी.वी. (Electronic Media) न केवल भ्रष्ट तन्त्र के खिलाफ आवाज उठाते हैं, अपितु वे सृजनात्मक कार्य भी करते हैं। पर्यावरण प्रदूषण, मानवाधिकार, मद्यनिषेध, परिवार नियोजन, सूखा, बाढ़, भूकम्प, भुखमरी आदि के क्षेत्र में भी ये मानव समाज को जाग्रत कर मानव कल्याणकारी कार्य भी करते हैं। आज युग-युग को उपेक्षित जनों को अपने खोए हुए अधिकार मिले हैं तो उनका श्रेय जनसंचार के साधनों को जाता है। संचार ने ही नारी को पुरुष के समान दर्जा दिलाया है। समाचार-पत्र एवं अन्य पत्रिकाएँ भी मनोरंजन के क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध हुई हैं। उनमें नई-नई कहानियाँ, किस्से, कविताएँ, बालोपयोगी साहित्य छपता है। इसी प्रकार टेलीविजन से हास्य व्यंग्य के सीरियल, फीचर फिल्में, ज्ञानोपयोगी चर्चाएँ, खेलों आदि का आनन्द लिया जा सकता है।

सूचना के आधुनिक माध्यमों के विस्तार ने नई सांस्कृतिक चुनौतियों को भी जन्म दिया है। संचार के विभिन्न माध्यमों से सांस्कृतिक परिवर्तन का श्रीगणेश हो रहा है। गाँवों में एक नवीन मध्यम वर्ग का जन्म हुआ है और इस मध्यम वर्ग ने राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कराई है। पिछड़े वर्गों के लोगों में एक नवीन प्रकार की चेतना आई है। दलित वर्ग ने भी अपनी अस्मिता की सुरक्षा के लिए आवाज उठानी शुरू कर दी है। शहरी समाज में उच्च शिक्षा प्राप्त कर ऐसा मध्यम वर्ग उदित हुआ है जो कौशल एवं योग्यता को प्रदर्शित करने की महत्वाकांक्षा रखता है। भारतीय समाज में जो एक महत्वपूर्ण परिवर्तन उल्लेखनीय है, वह है पलायनवादिता।

जनसंचार के साधनों ने विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में संस्कृति के आदान-प्रदान की प्रक्रिया को गति प्रदान की है। आज संचार माध्यमों को दुनिया के विभिन्न देशों में संस्कृति के प्रतिमानों को आसानी से परस्पर ग्रहण किया जा रहा है। संस्कृति के आदान-प्रदान में आई तेजी के बावजूद भी भारतवासियों ने अपनी सांस्कृतिक अस्मिता खोई नहीं है। अपने सांस्कृतिक प्रतीकों और पदार्थों में लोगों की अभिरुचि कायम है। जनसंचार के साधनों ने हमारे सांस्कृतिक वैभव और लोक परम्पराओं को और उभारा है। समाजशास्त्रियों की दृष्टि में इसे भारतवासियों का सांस्कृतिक लचीलापन कहा जाता है।

भूमण्डलीकरण और स्थानीय संस्कृति
(Globalization and Local Culture)

संस्कृति, शिक्षा और जनसंचार किसी भी देश के समाज के तीन प्रमुख घटक हैं, यह घटक आपस में असम्बन्धित नहीं है वरन् ये परस्पर सम्बन्धित होते हुए एक दूसरे को प्रभावित, नियमित व निर्देशित करते रहते हैं। पृथक् तौर पर भी इनका समाज पर पर्याप्त प्रभाव होता है, इनके प्रभावों की पृथक्-पृथक् सीमा ही सामान्य तौर पर माप सम्भव नहीं है। ये तीनों घटक एक दूसरे से प्रभावित और अन्तर्सम्बन्धित होते हुए समूह में व्यक्तित्व की जीवन विधि को प्रभावित करते हैं।

आगे हम सांस्कृतिक शिक्षा और जनसंचार के संकुल को ध्यान में रखते हुए भूमण्डलीकरण और स्थानीय संस्कृति के सम्बन्ध को स्पष्ट करेंगे।

स्थानीय संस्कृति वह संस्कृति है जिसका फैलाव किसी देश या समाज की भौगोलिक सीमा तक सीमित रहता है। यद्यपि एक ही देश या प्रदेश में अनेक सांस्कृतिक समूहों का वास साथ-साथ होता है; जैस कि भारतीय समाज में है। ऐसा कहा जाता है कि भारत अनेक संस्कृतियों का संगम स्थल है। यहाँ विविधता और विभिन्नता देखते को मिलती है, और साथ ही इन विभिन्नताओं के मध्य एकता भी पाई जाती है। इस सबके कहने का अभिप्राय यह है कि स्थानीय संस्कृति, देश या समाज की परम्परागत संस्कृति है। इन्हें हम उप संस्कृति भी कह सकते हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने इन क्षेत्रीय संस्कृतियों को **'स्थानीय संस्कृति'** (Local Culture) कहा है।

भूमण्डलीकरण का स्थानीय संस्कृति पर प्रभाव
(Impact of Globalization in Local Culture)

भूमण्डलीकरण का प्रभाव उन समाजों अथवा देशों की परम्परागत संस्कृतियों पर भी पड़ता है; जो देश व्यापारिक सम्बन्धों के माध्यम से पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आते हैं। क्योंकि पाश्चात्य संस्कृति के जनक विकसित देश हैं और उनकी संस्कृति की एक सार्वभौमिक भाषा अंग्रेजी है। भूमण्डलीकरण के स्थानीय संस्कृति पर पड़ने वाले प्रभावों को संक्षेप में निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

बाहरी संस्कृति के कुछ पक्षों को ग्रहण करना—यह देखने में आया है कि जिन-जिन देशों में भूमण्डलीय संस्कृति पहुँच गई है, वहाँ-वहाँ स्थानीय संस्कृति ने इस संस्कृति के कुछ तत्वों को आवश्यकतानुसार ग्रहण कर लिया है, जैसे—भारत के नगरीय परिवेश में अंग्रेजी का आम प्रयोग, खान-पान की पश्चिमी विधि, क्लब

और होटलों आदि का प्रचलन बढ़ता जा रहा है; इतना ही नहीं, ग्रामीण परिवेश में भी आंशिक तौर पर अनेक भूमण्डलीय संस्कृति के प्रतिमानों को ग्रहण किया जा रहा है। इतना होने के बाद भी इन लोगों ने अपने स्थानीय रीति-रिवाजों को और जीवन विधियों को बनाए रखा है। इस प्रकार, वास्तव में यह देखने में आ रहा है कि **भूमण्डलीय संस्कृति और स्थानीय संस्कृति साथ-साथ बनी रह सकती हैं।** इस बारे में **जोसेफ एफ. हेअली** अपनी पुस्तक '*Sociology for a new Century*' में चार करणों का उल्लेख किया है–

(i) स्थानीय संस्कृति के लोग अपने लोगों से सामुदायिक भावना के साथ जुड़े रहते हैं और उनमें अपने क्षेत्रीय समुदाय के लोगों के साथ भौगोलिक स्थिति के कारण गहरा भावात्मक सम्बन्ध होता है; इसलिए स्थानीय संस्कृति के लोग बाहरी संस्कृति के विचारों, वस्तुओं आदि में पूरी तरीके से सहभागी नहीं बन पाते।

(ii) **स्थानीय संस्कृति आश्चर्यजनक तौर पर लचीली और टिकाऊ होती है।** स्थानीय जनता अपनी भाषा, मूल्यों, विश्वासों, मान्यताओं धर्म-कर्म आदि के साथ मजबूती से जुड़ी रहती है इसलिए ये लोग अपनी स्थानीय संस्कृति के स्थान पर भूमण्डलीय संस्कृति को ग्रहण नहीं कर पाते। उदाहरण के तौर पर अफ्रीका में चर्च की सेवाओं में यहाँ के निवासियों ने स्थानीय रीति-रिवाजों, संगीत, नृत्य और भाषा का समावेश कर किया है।

(iii) मानव लम्बे समय से विभिन्न उप संस्कृतियों का प्रतिफल रहा है। इसलिए वह भूमण्डल की उच्च माने जाने वाली संस्कृति के साथ पूरे तरीके से घुल-मिल नहीं पाता क्योंकि दुनिया के देशों में रहने वाले लोग ये मानते हैं और सोचते हैं कि कहीं हम सब इस भूमण्डलीय संस्कृति के गुलाम न बन जाएँ। इसलिए भूमण्डलीय संस्कृति के साथ पूरे तरीके से एकरूपता स्थापित नहीं की जा सकती है।

(iv) अनेक व्यक्ति अपने लिए सांस्कृतिक विविधता को सम्मान देते हैं; वह नए अनुभवों, नई वस्तुओं, नए विचारों को पसन्द करते हैं ताकि उनके जीवन में नवीनता बनी रहे; यही कारण है कि स्थानीय संस्कृति के लोग अपने पुरातन रिवाजों और विचारों को पूरे तरीके से छोड़ नहीं पाते क्योंकि उनके लिए इनका कुछ व्यक्तिगत अर्थ व मूल्य होता है। उदाहरण के तौर पर आज के भूमण्डलीकरण के युग में हम अपने पूर्वजों की भांति पूजा करते हैं, अपने शास्त्रीय संगीत और कथाओं को भूल नहीं पाते हैं।

भारतीय समाज की रचना सहयोग, सहभागिता और समन्वय के आधार पर हुई है। आज भूमण्डलीकरण तथा उदारीकरण के प्रभाव के कारण भोगवादी संस्कृति, बाजार और सरकार में लोभ और स्वार्थ, द्वेष और हिंसा आदि पनप रही है। फलस्वरूप मनुष्य जाति का अस्तित्व ही खतरे में आ गया है। विश्वव्यापी संस्कृति के नाम पर बेतुका उपभोक्ता पैकेज तीसरी दुनिया के देशों की थाली में परोसा जा रहा है। पश्चिमी देशों द्वारा निर्मित संचार सामग्री आज पूरी दुनिया के संचार चैनलों में अपनी धाक जमाए हुए है। आज सहयोग, सहभागिता और समन्वय जैसे मूल्यों में गिरावट आ रही है, जो कभी भारतीय संस्कृति के आदर्श हुआ करते थे। इस प्रकार विश्व में संस्कृति के उदय के कारण स्थानीय या उपसंस्कृति का ह्रास हो रहा है।

9

असहमति तथा सामाजिक परिवर्तन
(Disagreement and Social Change)

किसी भी राष्ट्र के समाज का एक निश्चित भाग जब अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता है, तब यह कहा जाता है कि उस राष्ट्र में गरीबी व्याप्त है। गरीबी रोजगार की उपस्थिति में भी होती है। और रोजगार की अनुपस्थिति में भी होती ही है। भारत में निरपेक्ष प्रकृति की गरीबी मिलती है, क्योंकि यहाँ की अधिकांश गरीबी बेरोजगारी के कारण ही है। गरीबी, बेरोजगारी और सामाजिक भेदभाव के कारण समाज में असन्तोष पनपता है। प्रत्येक समाज में किसी-न-किसी सीमा तक असन्तोष व्याप्त रहता है चाहे वह किसी भी कारण से हो। असन्तोष की स्थिति में लोग अन्याय के विरुद्ध एक जुट होकर आवाज उठाते हैं। स्थापित सामाजिक व्यवस्थाओं का विरोध करते हैं और संघर्ष करने के लिए वातावरण बनाते हैं। इस प्रकार की परिस्थिति ही सामाजिक आन्दोलनों को जन्म देती हैं। सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

किसी भी आन्दोलन की परिणति सहज रूप में नहीं होती है। अपितु असहमति के सकारात्मक पहलुओं का दमन कर दिया जाता है तो इसका परिणाम असन्तोष तक विरोध (क्रोध) के रूप में सामने आता है और अन्त में सामाजिक आन्दोलन का भंयकर रूप एक क्रान्ति भी हो सकती है जिसके अन्तर्गत बड़े पैमाने पर हिंसा, खून-खराबा और विध्वंस कुछ भी हो सकता है। इस प्रकार, हमने देखा कि समाज में पहले किसी विषय पर असहमति उभरती है, फिर उसका विरोध होता है और अन्त में सामाजिक आन्दोलन शुरू होते हैं। ये सामाजिक आन्दोलन

समाज में परिवर्तन लाते हैं। सामाजिक आन्दलों के विभिन्न प्रकारों का विस्तार में अध्ययन करने से पहले, हम यहाँ असहमति तथा विरोध की अवधारणा को स्पष्ट करना चाहेंगे।

असहमति
(Disagreement)

प्रजातन्त्र में नागरिक कई प्रकार की स्वतंत्रताओं का उपयोग करते हैं, जिनमें अर्थोपार्जन, राजनीतिक, धार्मिक आदि किसी भी प्रकार की आस्था, अभिव्यक्ति, संगठन आदि की स्वतन्त्रताएँ प्रमुख हैं। परन्तु इस प्रकार की स्वतंत्रताओं का यह अर्थ नही है कि उनका प्रयोग दूसरों के व्यक्तिगत अथवा सामूहिक हितों या सामाजिक राष्ट्रीय हितों के खिलाफ किया जाए। विचार में भिन्नता और कुछ मुद्दों पर असहमत होना असहमति का आधार माना जाता है। इस तरह असहमति को सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलन की शुरुआत कहा जा सकता है। अदाहरणार्थ, भारत में छुआछूत, सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध आदि जैसे अमानवीय व्यवहारों के विरोध के संघर्ष इसलिए शुरू हुए क्योंकि ये सब सामाजिक कलंक थे और इन्हें मूलस्वरूप मिटाना समाज की मांग थी। लोगों ने इन अतानवीय एवं क्रूरतापूर्ण व्यवहारों के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की। इसका घोर विरोध किया।

विरोध
(Protest)

विश्व में आज प्रत्येक राष्ट्र या तो लोकतंत्रात्मक होने की इच्छा करता है या होने का दावा करता है। वह प्रत्येक कार्य में राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक रूप से अच्छा करने का वादा करता हुआ प्रतीत होता है। वास्तव में ऐसा नहीं है, लोकतंत्र भी भ्रम, प्रतिकूलता तथा विरोध आदि से परिपूर्ण है। **विरोध क्या है?** आमतौर पर विरोध का स्वरूप एक विशिष्ट प्रकृति का होता है। असहमति जब खुलकर सामने आती है, तब यह विरोध का रूप धारण कर लेती है। इससे जब वैचारिक असहमति और भी मजबूत कर लेती है, तब विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। विरोध हमेशा निषेधात्मक रूप में ही नहीं लिया जा सकता। यह वर्तमान व्यवस्था, संस्थाओं या प्रणालियों के बेहतर विकल्प सुझाने तथा उपलब्ध कराने में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाता है। इस प्रकार, विरोध तभी अर्थपूर्ण माना जाएगा,

जब उसे किसी समय विशेष में समाज की संस्थागत व्यवस्थाओं के बारे में असहमति द्वारा समर्थन हासिल होगा। वैसे, अति किसी भी चीज की बुरी होती है और यही बात विरोध के साथ भी है, चाहे वह प्रजातन्त्र के विरुद्ध हो या किसी अन्य व्यवस्था के। इस प्रकार अर्थपूर्ण विरोध (Meaningful Protest) ही भेदभाव और अन्याय के प्रति समाज की आवाज है।

सामाजिक आन्दोलन
(Social Movements)

सामाजिक व्यवस्था एक गतिशील व्यवस्था है, न कि जड़ या स्थिर व्यवस्था। इसका तात्पर्य यह है कि समाज की व्यवस्था में एक प्रकार की 'गति' (Movements) होती है। इस गति के दौरान समाज केवल अच्छे तत्वों को ही नहीं बल्कि कुरे तत्वों को भी आने में समेट लेता है। ये अच्छे. तत्व सामाजिक प्रगति के कारण बन जाते हैं और बुरे तत्व सामाजिक समस्या के रूप में प्रकट होते हैं और समाज के शरीर पर फोड़ों की भाँति रहकर उसे कष्ट देते रहते है और उसकी स्वभाविक गति को रोकते है समाज को स्वस्थ बनाने के लिए इन 'फोडों' को चीर-फाड़कर समाप्त कर देने की आवश्यकता होती है। समाज को स्वस्थ व प्रगतिशील बनाने के इस कार्य को ही समाज-सुधार या सामाजिक सुधार कहते हैं और जो इन कार्यों को करते हैं उन्हें समाज-सुधारक कहकर पुकारा जाता है। स्मरण रहे कि समाज के 'फोड़' वास्तव में सामाजिक कुरीतियाँ या कुप्रथाएँ, धार्मिक अन्धविश्वास, सामाजिक भेदभाव आदि होते हैं और इनकी प्रकृति प्रत्येक समाज तथा प्रत्येक युग में अलग-अलग होती है। इसलिए इन्हें दूर करने या समाप्त करने के लिए किए गए प्रयत्न भी समाजों में तथा सभी युगों में एकसमान नहीं हुआ करते। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि सामाजिक आन्दोलन एक गतिशील अवधारणा (dynamic concept) है।

अतः सामाजिक आन्दोलन वह गतिशील कार्य का प्रयत्न है जो सामाजिक कुप्रथाओं, धार्मिक अन्धविश्वासों, सामाजिक-सांस्कृतिक भेदभाव आदि को दूर करने के लिए सामूहिक या व्यक्तिगत रूप में किया जाता है और जिसका कि उद्देश्य सामाजिक विकास के किसी भी चरण में समाज के अन्तर्गत व्यक्ति, परिवार एवं समूह के जीवन को अधिक स्वस्थ व प्रगतिशील बनता है।

प्रसिद्ध भारतीय समाजशास्त्री प्रोफेसर एम.एस.ए. राव ने सामाजिक आन्दोलन का परिभाषा देते हुए लिखा है, *"सामाजिक आन्दोन समाज के एक*

भाग द्वारा समाज में पूर्ण या आंशिक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से एक विचारधारा या वैचारिकी (Ideology) पर आधारित सामेहिक प्रयत्नों द्वारा किया गया एक संगठित प्रयास है।"

सामाजिक आन्दोलन की विशेषताएँ
(Features of Social Movement)

प्रोफेसर एम.एस.ए. राव ने अपनी पुस्तक *'Social Movement in India'* में सामाजिक आन्दोलन के कुछ अन्तर्निहित तत्वों व विशेषताओं का उल्लेख किया है। उनके तथा अन्य विद्वानों के विचारों के आधार पर हम यहाँ सामाजिक आन्दोलन के अन्तर्निहित तत्वों या विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं–

(1) सामाजिक आन्दोलन आवश्यक रूप में किसी न किसी सामाजिक समस्या या समस्याओं अथवा सामाजिक व्याधिकी की प्रतिक्रिया के रूप में सामने आता है।

(2) प्रत्येक समाजिक आन्दोलन का उद्देश्य किसी न किसी सामाजिक समस्या को सुलझाने या सामाजिक व्याधिकी की स्थिति को सुधारने या किसी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक शोषण से निपटना होता है ताकि सामाजिक व्यवस्था को एक स्वस्थ आधार प्रदान किया जा सके और सामाजिक प्रगति की गति में आए अवरोध दूर हो सकें।

(3) इस दृष्टिकोण से, जैसा कि **प्रोफेसर एम.एस.ए. राव** ने लिखा है, सामाजिक आन्दोलन आंशिक या पूर्ण सामाजिक परिवर्तन लाने की ओर उन्मुख होता है। परिवर्तन लाने का यह प्रयास सम्बन्धों की वर्तमान व्यवस्था से अथवा मूल्यों तथा आदर्शों से सम्बन्धित हो सकता है, यंद्यपि कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि किसी-किसी सामाजिक आन्दोलन का उद्देश्य परिवर्तन को रोकना या उसका विरोध करना एवं यथास्थिति को बनाये रखना भी होता है; जैसे पिछड़े वर्गों के आरक्षण के कोटे को बढ़ाने के सरकारी प्रयत्नों के विरुद्ध उच्च जातियों द्वारा किए गए जन-आन्दोल। इस प्रकार के आन्दोलन यथास्थिति को बनाए रखने वाले रक्षात्मक आन्दोलन होते हैं न कि परिवर्तन लाने वाले आन्दोलन। इनका उद्देश्य अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए वर्तमान स्थिति को बहाल रखना होता है और उसके लिए संगठित प्रयास किया जाता है। पर साधारणतया एक सामाजिक आन्दोलन परिवर्तन व प्रगति की ओर उन्मुख होता है।

(4) सामाजिक आन्दोलन में निःसन्देह सामूहिक क्रिया का प्रयास—न किस व्यक्तिगत क्रिया का प्रयास अन्तनिर्हित होता है, बल्कि इसकी शुरूआत व्यक्तिगत स्तर पर ही हुआ करती है। शुरू करने वाला कोई व्यक्ति, नेता या महापुरुष ही होता है, पर जब उनका यह प्रयास एक सामूहिक क्रिया या प्रयास का रूप धारण कर लेता है तभी उसे 'आन्दोलन' कहा जाता है। यह आवश्यक है कि यह आवश्यक नहीं है कि यह सामूहिक क्रिया औपचारिक रूप में संगठित हो, पर इतना आवश्यक होता है कि वह पर्याप्त संख्या में लोगों के रुचि व चेतना जागृत करने में सफल हो। इस प्रकार एक सामाजिक आन्दोलन आवश्यक रूप में औपचारिक या अनौपचारिक संगठन के माध्यम से सामूहिक प्रयत्न का प्रतीक होता है।

(5) प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन में विचारधारा (Ideology) या वैचारिक निहित होती है। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक आन्दोलन सिद्धान्तहीन नहीं होता है और कुछ सिद्धान्तों व आदर्शों की प्राप्ति के लिए ही ऐसे आन्दोलनों को चलाया जाता है। पर बहुत से विद्वान सामाजिक आन्दोलन की विशेषता से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि कुछ स्वार्थ-समूह या राजनैतिक पार्टियाँ अपने ही समूह के हितों की पूर्ति के लिए कुछ ऐसे सामाजिक आन्दोलनों को हवा देते हैं जो कि समाजिक प्रगति के परिचायक न होकर संकुचित आदर्शों व समूह-स्वार्थों के प्रतीक होते हैं और अन्ततः सामाजिक एकता व अखण्डता के लिए घातक सिद्ध होते हैं।

(6) प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन की एक संगठनात्मक कार्य-पद्धति होती है क्योंकि ऐसे आन्दोलन औपचारिक या अनौपचारिक संगठन के बिना सम्भव नहीं हैं। ऐसे संगठन मनमाने ढंग से कार्य नहीं करते हैं। सोचने-समझने के तरीके से या योजनाबद्ध रूप में कार्य किया जाता है। कार्य-पद्धति जितनी अधिक सुसंगठित व सुनियोजित होगी, सामाजिक आन्दोलन की सफलता उतनी ही सुनिश्चित होगी।

(7) अन्तिम रूप में, प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन परिणाममूलक होते हैं, अर्थात ऐसे सामाजिक आन्दोलनों के अपने कुछ परिणाम होते हैं। वास्तव में इन परिणामों को प्राप्त करने के लिए ही ऐसे आन्दोलनों को शुरू किया जाता है। सामाजिक आन्दोलन का घनिष्ठ सम्बन्ध समाज कल्याण से होता है। सामाजिक आन्दोलनों का उद्देश्य कुप्रथाओं, रूढ़ियों, सामाजिक-आर्थिक, राजनैतिक शोषणों, धार्मिक अन्यायों को जड़ से उखाड़ना होता है। इस रूप में सामाजिक आन्दोलन

की अवधारणा समाज कल्याण की अवधारणा से जुड़ी हुई है।

सभी आन्दोलन एक समान नहीं होते हैं। कुछ आन्दोलन आंशिक परिवर्तन के लिए किए जाते हैं तो कुछ सामाजिक संरचना में मूलभूत परिवर्तन के लिए किए जाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जहाँ आन्दोलन परिवर्तन को बढ़ावा देने का काम करते हैं वहीं कुछ उन्हें रोकने का कार्य भी करते हैं।

सामाजिक आन्दोलनों का उदय
(Rise of Social Movement)

सामाजिक आन्दोलन क्यों किए जोते हैं? वे कौन से कारक हैं जो सामाजिक आन्दोलनों को हवा देते हैं? किन स्थिति में एक आन्दोलन शुरू होकर लम्बी अवधि तक चलता है? इन सभी प्रश्नों का जवाब हमें सामाजिक आन्दोलन की उत्पत्ति और उसके स्रोत में मिलेगा।

आन्दोलन की उत्पत्ति से सम्बन्धित तीन प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं–

(1) सापेक्षिक वंचन सिद्धान्त–यह सिद्धान्त लोगों की सभावग्रस्त स्थिति को दर्शाता है। जब लोगों के पास जीवन के लिए आवश्यक वस्तु का अभाव होता है जो वह उसे पाने के लिए संघर्ष करता है। अर्थात् न्यायोचित अपेक्षाओं और वास्तविक उपलब्धियों में अन्तर ही सापेक्षिक वंचन कहलाता है। आर्थिक-सामाजिक- राजनैतिक शक्ति के कारण एक युवा कम अंक पाकर भी अपने मनचाहे कोर्स में प्रवेश पा सकता है जबकि दूसरा अच्छे अंकों के बावजूद धक्के खाता है। इस प्रकार सापेक्षिक वंचन मौजूदा हालात के विरुद्ध असन्तोष उत्पन्न करता है, जो आगे चलकर एक आन्दोलन का रूप धारण करता है। अधिकतर समाजशास्त्रियों ने सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन सापेक्षिक वंचन सिद्धान्त की सीमा में किया है।

(2) संरचना खिंचाव का सिद्धान्त–सामाजिक आन्दोलन आवश्यक रूप में सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक संरचना से सम्बन्धित होते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन की एक आवश्यक शर्त है। वास्तविकता तो यह है कि सामाजिक आन्दोलन के बिना भी परिवर्तन जन्म ले सकते हैं। इतना ही नहीं, स्वयं सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन का विरोध करने के लिए क्रियाशील हो सकते हैं। सामाजिक आन्दोलन सामाजिक संरचना की उपज होते हैं और इसलिए सामाजिक संरचना या ढाँचे की कुछ निश्चित दशाओं के कारण ही उभरते या खिंचाव प्रकट करते हैं।

(3) पुनर्जीवनीकरण का सिद्धान्त–सामाजिक आन्दोलन का जन्म सामाजिक

सदस्यों (जनता) द्वारा संगठित और सजग प्रयासों के फलस्वरूप होते हैं। इन आन्दोलनों का उद्देश्य संस्कृति को अधिक सन्तोषजनक बनाने से होता है। आन्दोलन की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त पहले बताए गए दोनों सिद्धान्तों से भिन्न है। पुनर्जीवनीकरण का सिद्धान्त यह दर्शाता है कि व्यवस्था को पुनर्जीवित करने के लिए सामाजिक आन्दोलन एक सकारात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। इसलिए इस सिद्धान्त के मुताबिक, न केवल वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष तथा असहन्ति पनपति है, अपितु व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का विकल्प भी है।

सामाजिक आन्दोलन के प्रकार
(Types of Social Movement)

सामाजिक आन्दोलन एक व्यापक अवधारणा है जो कि सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होता है। इस सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के विभिन्न अंग हैं—धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक आदि। सामाजिक आन्दोलन इनमें से किसी भी पक्ष से सम्बन्धित हो सकता है और इसी आधार पर सामाजिक आन्दोलन के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया जा सकता है। जैसे छात्र आन्दोलन शैक्षिक जीवन से सम्बन्धित है और राम जन्म-भूमि-बाबरी मस्जिद आन्दोलन हमारे धार्मिक जीवन से, यद्यपि इसे अब राजनैतिक रंग में रंग दिया गया है। दक्षिण में हिन्दी-भाषा के विरुद्ध जो आन्दोलन चलता रहता है, उसे सांस्कृतिक-सामाजिक आन्दोलन ही कहा जायेगा यद्यपि आज उसे भी राजनीतिज्ञों ने अपने हाथ में ले लिया है। आन्दोलन के 'परिणामों' के आधार पर भी सामाजिक आन्दोलनों को वर्गीकृत किया जा सकता है। कुछ ऐस सामाजिक आन्दोलन होते हैं जो कि जीवन के किसी विशेष पक्ष में ही सुधार पर बल देते हैं जबकि कुछ आन्दोलन जीवन के समस्त क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन का आह्वान करते हैं। इसी प्रकार सामाजिक आन्दोलनों को भाषायी, धार्मिक, जाति, कृषक, श्रमिक, जनजातिय महिला आदि आधारों पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है। इतना ही नहीं, सामाजिक आन्दोलन का वर्गीकरण उनके पैमाने (Scale) व स्थान (Spatial) के आधार पर भी किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, कुछ आन्दोलन अखिल भारतीय स्तर पर संगठित होते हैं (जैसे आर्य-समाज आन्दोलन) जबकि कुछ आन्दोलन क्षेत्रीय या स्थानीय स्तर पर क्रियन्वित किए जाते हैं, जैसे झारखण्ड मुक्ति-मोर्चा आन्दोलन।

प्रोफेसर एम.एस.ए. राव ने अपनी पुस्तक *'Social Movement in*

India' में सामाजिक आन्दोलन के निम्नलिखित पाँच प्रकारों का उल्लेख किया है जिनका हम यहाँ अलग-अलग उप-शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन करेंगे—

सुधार आन्दोलन (Reform Movement)

समाज में अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता तथा अनुपयोगी प्रथाओं को दूर करने के लिए जो कार्य किया जाता है, उसे **'समाज सुधार'** कहा जाता है। समाज-सुधार समाज को स्वस्थ्य तथा प्रगतिशील बनाने की भावना को प्रेरित होता है। सुधार आन्दोलन समाज के बुनियादी ढ़ांचे में बिना किसी परिवर्तन किए सामाजिक स्थिति को सुधारने का प्रयास करता है। सुधार प्रायः लोगों के धर्म, विश्वास, कर्मकाण्ड तथा जीवन-पद्धति से जुड़ा होता है। भारत में समाज-सुधार आन्दोलनों के अनेक उदाहरण हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में नवजागरण प्रारम्भ हुआ। इस नवजागरण आन्दोलन का सुत्रपात राजा राममोहन राय ने किया, जिन्हें आधुनिक भारत का जन्मदाता कहा जाता है। **राजाराममोहन राय** तथा उनके द्वारा स्थापित **ब्रह्म समाज** ने धार्मिक पाखण्डों, अंधविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों पर तीखा प्रहार कर समाज सुधार आन्दोलन को जन्म दिया। हिन्दी भाषा प्रान्तों में नवजागरण का कार्य **दयानन्द सरस्वती** व उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने किया। महाराष्ट्र में **महादेव गोविन्द रानाडे आगरकर** तथा **लोकहितवादी** आदि ने समाज सुधार आन्दोलन को आगे बढ़ाया। परन्तु **राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, रानाडे** आदि **उच्च जातियों** के थे। अतः वे निम्न जातियों के सामाजिक उत्पीड़न व उनके कारणों को ठीक तरह नहीं समझ सके। ये समाज सुधार आन्दोलन मुख्यतः शहरी लोगों विशेषकर उच्च वर्णीय लोगों तक ही सीमित रहे। ये आन्दोलन सामाजिक सुधार के कुछ सवालों तक ही सीमित रहे जबकि **ज्योतिबा फूले** का आन्दोलन दलितों तथा पिछड़ों की सामाजिक मुक्ति का आन्दोलन बन गया।

ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज आदि वेदों उपनिषेदों व अन्य हिन्दू धार्मिक साहित्य पर प्रेरणा व निर्देशों के लिए आश्रित थे। ज्योतिबा फूले के लिए आर्य परम्परा का सारा साहित्य ब्रह्मणवादी व जनविरोधी था। फूले के लिए ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज व आर्य समाज उच्च जातियों का वर्गीय संगठन थे और वे उन पर कटुता पूर्वक हमला करते थे।

वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने आम जनता में आत्मसम्मान का भाव पैदा किया और उच्च वर्गों की सर्वोच्यता पर हमला किया। फूले ने वेदों, पुराणों आदि में वर्णित मानवीय आचरण के नियमों व देवी देवताओं को ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता स्थापित करने का षड्यंत्र घोषित करते हुए **बहुजन समाज** को शूद्रों अति शूद्रों से उनका तिरस्कार करने की बात कही। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, जातिभेद, छुआछूत, विधवाओं की स्थिति आदि का विरोध कर हिन्दू समाज में सुधार करना चाहते थे। वे कहते थे कि जातिप्रथा, सतीप्रथा, अस्पृश्यता, ऊँच-नीच इन सबका वेदों में उल्लेख नहीं है। परन्तु **ज्योतिबा** तो वेदों पुराणों के परे हटकर समातावादी समाज बनाना चाहते थे। वे जानते थे ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, अस्पृश्यता, जातिभेद, महिलाओं की निम्न स्थिति वेद पुराणों के व्याख्याकार व रचनाकार ब्राह्मणों के षड्यन्त्रों का परिणाम है। अतः सामाजिक सुधार व समता सुधार व समता के लिए हमें वेदों, पुराणों आदि के अस्तित्व को चुनौती देनी होगी। यही बात **ज्योतिबा फूले** को अपने समकालीनों से अलग करती है।

ज्योतिबा केवल उपदेशक ही नहीं थे बल्कि प्रखर क्रान्तिकारी थे। वे जानते थे कि विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए संगठन की आवश्यकता होती है। इसी उद्देश्य से उन्होंने 24 सितम्बर 1873 को पूना में *''सत्यशोधक समाज''* की स्थापना की। सत्यशोधक समाज की स्थापना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए **ज्योतिबा** ने कहा था– *''अपने मतलवी ग्रन्थों के सहारे अब तक शूद्रों को नीच मानकर जो ब्राह्मण, भट्ट, जोशी, उपाध्याय आदि लोग करते आए, उन लोगों की गुलामगीरी से शूद्रों को मुक्त करने के लिए सदुपदेश व ज्ञान के द्वारा उन्हें अपने अधिकारों से परिचित करा देने के लिए तथा धर्म और व्यवहार सम्बंधी ब्राह्मणों के बनावटी और धर्म साधक ग्रंथों से उन्हें मुक्त करने के लिए सत्यशोधक समाज की स्थापना की गयी है।''* इसी प्रकार, केरल में **श्री नारायण धर्म परिपालन** जैसी संस्था पिछड़ी जातियों के लोगों ने शुरू की थी। मुसलमानों में सुधारवादी-कार्यों का नेतृत्व **मिर्जा गुलाम अहमद कादिमी ने सर सैयद अहमद खाँ ने अहमदिया आन्दोलन** तथा अलीगढ़ आन्दोलन शुरू करके किया था।

हिन्दू तथा मुस्लिम धर्म तरह **सिक्ख धर्म** में भी अनेक बुराइयाँ प्रवेश कर गई थीं। इससे दूर करने के लिए **सिंह सभा** और **शिरोमणि गुरु द्वारा प्रबन्ध समिति की स्थापना हुई**। **पारसी धर्म** भी सुधारवादी आन्दोलन से अछूता नहीं रहा। इस धर्म के समाज-सुधारकों में **दादा भाई नौरोजी** और **रुस्तम जी** का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 1351 में पारसी लोगों ने **रहनुमाई मजदेयासन सभा**

की स्थापना की थी। विश्व बन्धुत्व की भावना का विकास करने के लिए डॉ. ऐनी बेसेण्ट ने 1863 में भारत आकर **थियोसोफिकल सोसाइटी** नामक संस्था की विभिन्न शाखाएँ खोली थीं। इन सभी समाज-सुधार आनदोलनों ने जनमानस के जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन किए हैं।

जनजातीय आन्दोलन
(Tribal Movements)

भारतीय समाज व संस्कृति को जनजातियाँ निराली छवि प्रदान करती हैं। **भारत में लगभग 532 जन जातियाँ निवास करती हैं तथा इनकी जनसंख्या कुल जनसंख्या का लगभग 8.08 प्रतिशत है।** जनजातियों को **'वन्य जाति', 'आदिवासी', 'आदिम जाति', 'गिरिजन'** आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। धुरिये ने इन्हें *'पिछड़े हिन्दू'* भी कहा है। जनजातीय समुदाय पूरे भारत में फैले हुए हैं। लेकिन उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रों में इनकी आबादी अधिक है। वास्तव में, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम और नागालैण्ड में उनकी संख्या बहुत अधिक है। इसी प्रकार, छत्तीसगढ़ तथा झारखण्ड राज्यों में भी जनजातीय जनसंख्या का बाहुल्य है। इन विभिन्न जनजातियों की अपनी अलग संस्कृति, भाषा, सामाजिक संरचना, आदर्श, मूल्य आदि हैं। अधिकतर जनजातीय समुदायों की सांस्कृतिक तथा सामाजिक पहचान में कोई अन्तर नहीं आया है। ये आज भी समाज की मुख्यधारा से कटे हुए हैं। जंगलों में नग्न या अर्धनग्न अवस्था में रहते हैं। परम्परागत तरीकों को खेती और शिकार करते हैं। पशु और वृक्षों को अपना कुल देवता मानते हैं।

लेकिन ऐसा नहीं है कि जनजातीय समुदाय सुधारवादी रुख के प्रति बिल्कुल उदासीन हैं। बल्कि भारत के दूर-दराज के दुर्गम स्थानों जैसे पर्वतों, पठारों, पहाड़ियों, वनों, घाटियो आदि में रहने वाली जनजातियाँ अपने वर्तमान व्यवस्था में सुधार के लिए प्रयत्नशील हैं। सभ्य व आधुनिक कहे जाने वाले संसार के सम्पर्क में जनजातियों की मौलिक विशेषताओं का लोप होता जा रहा है और उनमें अनेक प्रकार की आधुनिक बुराइयों का प्रवेश हो गया है। इतना ही नहीं, बाहरी लोगों ने इन भोले-भाले लागों को शोषण भी किया है और उन्हें उनके मूल वातावरण से अलग कर दिया है। ब्रिटिश शासन काल में जनजातियों के क्षेत्रों में ईसाई मिशनरियों के बेरोक-टोक प्रवेश ने जहाँ एक और जनजातियों के शैक्षिणिक; आर्थिक, सामाजिक स्थिति आदि में सुधार किया वही दूसरी ओर उनमें इस देश की मूल संस्कृति, व्यवस्था आदि के प्रति घोर असन्तोष भी उत्पन्न किया है। आज

अंग्रेजी पढ़े-लिखे जनजातीय युवकों में देशभक्ति, राष्ट्रीयता आदि की भावनाएँ शिथिल पड़ गई हैं।

ब्रिटिश संस्कृति में पले शिक्षित जनजातीय लोगों ने जनजातियों में शिक्षा का प्रसार-प्रचार किया है और अनेक विषमताओं व अन्धविश्वासों को दूर करने में पर्याप्त सहायता की है। लेकिन इसी के साथ-साथ जनजातियों के शिक्षित लोगों ने भारत से अलग स्वतन्त्र प्रदेशों व देशों की माँग भी प्रारम्भ कर दी। इसके लिए देश के बाहर और अन्दर रहकर आन्दोलन व तोड़-फोड़ की कार्यवाहियाँ भी कीं। धीरे-धीरे भारतीय संवैधानिक ढाँचे के अन्तर्गत अनेक जनजातीय राज्यों का निर्माण हुआ; नागालैण्ड, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम आदि इसी के उदाहरण हैं।

देश के सभी जनजातीय आन्दोलन में **नागा आन्दोलन** सबसे पुराना है। इसमें भारत से अलग राज्य बनाने की माँग है। यह एक सैन्य-विद्रोह है जो अभी तक जारी है। भारत में झारखण्ड आन्दोलन लगभग छह दशक पुराना है। 1938 में बिहार में जनजातियों अथवा आदिवासियों में सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक पुनर्जागरण के लिए आदिवासी महासभा की स्थापना की गई। इसी क्रम में 1950 में चार पड़ोसी राज्यों—बिहार, बंगाल, उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश की जनजातियों के लिए एक पृथक राजय की माँग झारखण्ड आनदोलन के रूप में शुरू हुई। इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि में ऐतिहासिकता, विचारधारा, उप-क्षेत्रीय पहचान, राजनीति स्वायत्त आदि तत्व मुख्य तौर पर रहे।

आखिरकार झारखण्ड आन्दोलन सफल हुआ और भारत सरकार ने सन् 2000 में झारखण्ड का एक पृथक राज्य घोषित किया। इसी प्रकार, इस वर्ष छत्तीसगढ़ राज्य की घोषणा भी हुई, जो मध्यप्रदेश से काटकर बनाया गया।

सामान्य तौर पर भारतीय जनजातियों के आन्दोलनों की शुरुआत सांस्कृतिक लक्ष्यों को लेकर हुई, लेकिन बाद में राजनैतिक लक्ष्यों को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया। इसके अतिरिक्त जनजातियों के ऐसे आन्दोलन भी हैं जो विशुद्ध तौर पर सांस्कृतिक हैं क्योंकि ये आन्दोलन सजातीय एकरूपता, सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण, भाषा, धर्म, लिपि आदि तक ही सीमित हैं। ऐसे ही आन्दोलनों में जनजातियों का ***'भगत आन्दोलन'*** आता है।

हिन्दुओं में उच्च जातियों के सामाजिक-धार्मिक तथा व्यवहारों का राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश तथा गुजरात की अनेक जनजातियाँ अनुसरण कर रही हैं। इस अनुसरण के द्वारा जनजातियाँ या आदिवासी अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति में सुधार लाने का प्रयास कर रहे हैं। ये जनजातियाँ माँस व शराब का त्याग कर रही

हैं, पूरी तरह शाकाहारी होती जा रही हैं। हिन्दुओं की तरह देवी-देवताओं की पूजा तथा व्रतों का प्रचलन इनमें बढ़ता जा रहा है। जनजातियों में इस प्रकार की रुचि तथा अनुसरण करने की प्रक्रिया को **भगत आन्दोलन** के नाम से जाना जाता है। अनेक जनजातियों के अधिकांश सदस्य भगत या साधु बन गए हैं या बनते जा रहे हैं। इस प्रकार जनजातीय भगत आन्दोलन की प्रक्रिया भील, मीणा, गोण्ड, डराँव, खरवा आदि जनजातियों में बड़े पैमाने पर देखी जा सकती हैं। असम प्रदेश में आज पृथक **बोडोलेण्ड** की माँग चल रही है और आन्दोलन हिंसक होता जा रहा है। इस प्रकार जनजातियों के जागरूक शिक्षित लोगों के प्रयास से जनजातियों की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि स्थिति पहले से प्रर्याप्त बेहतर होती जा रही है। आज ये लोग देश की मुख्य धारा से जुड़कर अपने सुधार के लिए प्रयत्नशील हैं। इतना ही नहीं, अनेक स्वयं-सेवी संगठन भी जनजातीय सुधार आन्दोलन को दिशा प्रदान कर रहे हैं, ऐसे संगठनों में **'विश्व हिन्दू परिषद्'** का नाम उल्लेखनीय है।

किसान आन्दोलन
(Peasant Movement)

प्रो.ए.आर. देसााई के मतानुसार सन् 1918 के बाद ही भारतीय किसानों में कुछ राजनीतिक चेतना का विकसित होना प्रारम्भ हुआ जबकि उन लोगों ने संगठित राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लिया स्वयं अपने झण्डे तले कुछ कार्यक्रमों को लेकर अपना संगठन बनाया और खुद के नेतृत्व में अपनी माँगों की पूर्ति के लिए आन्दोलनों को आयोजित किया। परतन्त्र भारत में **कृषक आन्दोलन** पर क्रमबद्ध अध्ययन भी बहुत कम हुए हैं, केवल **वाल्टर हाउसर** द्वारा प्रस्तुत 'बिहार प्रान्तीय किसान सभा (1929-42) का अध्ययन **स्वाभी सहजानन्द सरस्वती** द्वारा लिखित बिहार किसान सभा के संस्करण तथा नटराजन द्वारा किया गया **'संथाल विद्रोह'** का अध्ययन, अवश्य ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं।

गाँधी जी के नूतृत्व में सन् 1917-18 में बिहार चम्पारन जिले में नील बागान मालिकों (indigoplanters), जिनमें अधिकांश अंग्रेज थे, के विरुद्ध किसानों का एक आन्दोलन भड़का था जिसमें कि गाँधीजी ने अपने सत्याग्रह की पद्धति को अपनाया था। इसके बाद **गाँधी** ने **कैरा आन्दोलन (Kaira)** में किसानों का एक सत्याग्रह आन्दोलन लगान वसूली के विरुद्ध जब आयोजित किया तब फसल खराब हो जाने के कारण वहाँ के किसान मालगुजारी अदा करने में असमर्थ थे।

सन् 1922 मालाबार में **मोपला कृषक विद्रोह** (Moplah pesant Rebellion), का उल्लेख इस सन्दर्भ में आवश्यक है। इस विद्रोह के आधार साम्प्रदायिक तथा आर्थिक दोनों ही थे। डॉ. देसाई के अनुसार मालाबार में ब्राह्मण जाति के नम्बूदरी जमीदारों द्वारा मोपला किसानों, जिनमें अधिकांश मुसलमान थे, का खूब अधिक शोषण किया जाता था। इस स्थिति को मुस्लिम सम्प्रदायवादियों (Muslim Communalists) ने एक साम्प्रदायिक रंग देकर भड़काया, फलतः एक ऐसा विद्रोह उभरा जिसकी अन्तवस्तु तो मुख्यतः आर्थिक थी, पर स्वरूप धामिक और जिसके कारण जानमाल की दुःखद क्षति हुई।

इसी सन्दर्भ में दो अन्य आन्दोलनों का भी उल्लेख किया जा सकता है—एक तो **श्री सीताराम राजू** के नेतृत्व में नारसीपातान तालुक के **कोया किसानों का आन्दोलन** तथा दूसरा उत्तर प्रदेश के सीतापुर, रायबरेली आदि जिलों के किसान-आन्दोलन। उसी प्रकार गुजरात के बारदोली जिले में दो बार किसान-आन्दोलन उभरा—एक तो सन् 1928-29 में और दूसरा 1930-31 में। इसका नेतृत्व श्री **बल्लभभाई पटेल** ने किया था और सरकार को किसानों की अधिकांश माँगों को मानना पड़ा था। इस सफलता से किसान-आन्दोलन को बड़ी प्रेरणा मिली।

सन् 1930 में गाँधीजी ने एक ग्यारह-सूत्रीय-माँग-पत्र ब्रिटिश सरकार को पेश किया। उसी समय उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक तथा देश के अन्य भागों में किसान-आन्दोलन धीरे-धीरे फैलता रहा। उपरोक्त आन्दोलन की शृंखला में सन् 1927 में बिहार किसान सभा का शुभारम्भ हुआ जो कि सन् 1934 के बाद एक विस्तृत व प्रभावशाली संगठन के रूप में विकसित हो गया और इसका श्रेय स्वामी सहजानन्द सरस्वति के प्रयासों को जाता है। यह **'बिहार किसान सभा'** सम्भवतः बाद को बनने वाली अखिल भारतीय किसान सभा (All-India Kisan Sabha) का सबसे शक्तिशाली अंग रही है। उत्तर प्रदेश में, 'प्रान्तीय किसान सभा' (Provincial Kisan Sabha) का गठन सन् 1935 में हुआ। इस सभा में अपने कार्यक्रमों में जमींदारी प्रथा को समाप्त करने की माँग को भी सम्मिलित कर लिया था। देश के अन्य भागों में भी किसान सभाओं का गठन धीरे-धीरे होता रहा।

सन् 1935 में लखनऊ में अखिल भारतीय किसान काँग्रेस (All-India Kisan Congress) का प्रथम अधिवेषण हुआ जिसमें यह तय किया गया कि काँग्रेस का गठन देश के सर्वोच्च किसान संगठन के रूप में किया जाए। इसे **पण्डित जवाहरलाल नेहरू** का भी आशीर्वाद मिला और यह भारतीय किसानों को

शिक्षा तथा प्रचार के माध्यम से संगठित करने में अपनी अहम भूमिका निभाता रहा। **ज्योतिबा** ने किसानों को जिसमें कि अधिकांश शूद्र तथा अतिशूद्र हैं की गरीबी एवं दीनता का कारण भारतीय सामन्तवाद एवं ब्रिटिश पूंजीवाद हैं। **''किसान का कोड़ा''** पुस्तक में उन्होंने विस्तार से दिखाया है कि किस प्रकार जमींदार, जागीरदार एवं साहूकार, जिसमें कि अधिकांश ऊँची जातियों के हैं, किसानों का शोषण एवं उत्पीड़न करते हैं। उनका दृष्टिकोण कहता है कि किसानों को घोड़ा, बेल आदि जानवर की तरह मेहनत करके उन्हें सुख देना चाहिए व उनके ऐशों आराम की चीज पैदा करनी चाहिए। इसी प्रकार ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति तथा वहाँ के बने सामानों के भारत में आने के कारण किसानों में गरीबी तथा जनता में बेरोजगारी बढ़ी है। इंग्लैण्ड से कपड़ा, तरह तरह की साड़ियाँ, शाल, सिलाई मशीन, रंग-बिरंगे बिलोरी सामान, ताला चाबी, कैंची, चाकू आदि सामान आने से यहाँ के जुलाहे, धोबी, मोमीन आदि पूरी तरह कंगाल हो गए हैं तथा वे भूखों मर रहे हैं।

इस प्रकार किसानों की दयनीय हालत का **ज्योतिबा** ने मार्मिक चित्र खींचा हे तथा शूद्रों एवं अतिशूद्रों को सलाह दी है कि वे इस शोषण उत्पीड़न के विरुद्ध खड़े हों। ऊपर से देखने में यह ऊँची जातियों एवं नीची जातियों में संघर्ष दिखाई देता है पर गहराई से देखने में यह शोषक व शोषित के बीच संघर्ष है। एच.जी. सरदेसाई ने लिखा है– *''उस युग की परिस्थितियों में यह बोधगम्य है उनकी रचनाओं व आन्दोलन में ऊँची जातियों के विरुद्ध नीची जातियों को लामबंद करके खड़ा कर देने के सारे तत्व मौजूद थे। लेकिन जब हम उनकी सम्पूर्ण गतिविधियों पर विचार करते हैं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे समाज के शोषक तथा उत्पीड़न वर्गों के विरुद्ध सर्वसाधारण शोषित जनता की हिमायत करते थे। उन्होंने निमतापूर्वक सूदखोरों व साहूकारों पर प्रहार किए थे। उनके दृष्टिकोण में उच्चवर्गीय जातिवाद के विरुद्ध निम्न वर्गीय जातिवाद जैसी कोई चीज नहीं थी। यथावत रूप में वे जातिवाद के खिलाफ थे, फिर चाहे वह जातिवाद नीची जातियों का हो या ऊँची जातियों का।''*

ज्योतिबा ने किसानों को सलाह दी कि वे व्यक्तिगत जीवन में फिजूल खर्ची से बचें। सरकार को सलाह दी कि वह किसानों को अच्छी खाद्य, अच्छा बीज व उत्तम खेती से सम्बन्धित ज्ञान उपलब्ध कराए। अकाल का मुकाबला करने के लिए स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे बाँध बनाए जाएँ तथा सेना की सहायता ली जाए। उन्होंने किसानों पर लदे क़र्ज को कम करने के लिए सरकारी खर्चे पर रोक लगाने, लगान कम करने आदि की माँग की।

इसी प्रकार सन् 1946-47 का **तेभागा आन्दोलन** भी एक उल्लेखनीय घटना थी जिसमें लगान देने वाले किसानों ने जर्जर सामन्तवादी संरचना का विरोध किया। **प्रो. धनागरे** ने इस आन्दोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि, सरचनात्मक स्वरूप, कृषक आधार तथा संगठनात्मक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि वह आन्दोलन बंगाल के कृषकों के राजनीतिकरण का परिणाम था। आपके अनुसार भारत के इतिहास में राजनीति से प्रेरित कृषकों द्वारा एकजुट होकर चलाया गया यह पहला आन्दोलन था। इस पर साम्यवादियों का प्रभाव स्पष्ट था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में कृषक अशान्ति के सन्दर्भ में **श्री एच. डी. मालिया** ने लिखा है कि जमीदारों तथा किसानों के बीच सम्बन्ध उत्तरोत्तर तनावपूर्ण होता चला गया जिसके परिणामस्वरूप इन दोनों में हिंसक संघर्ष की घटनाएँ भी बढ़ती गयीं। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार के संघर्ष सन् 1947 के आरम्भ से ही शुरु हो गए थे एवं सुलतानपुर जिले के ग्राम शाहपुर में तथा गाजियाबाद जिले के शहबाजपुर गाँव में सन् 1949 तक कृषक अशान्ति काफी फैल चुकी थी। इनमें से प्रत्येक किसानों तथा जमीदारों में हिंसक टकराव हुए एवं जान व माल की क्षति दोनों ही पक्षों को सहनी पड़ी। यह किसानों तथा जमीदारों में बढ़ती हुई वर्ग-चेतना का ही परिणाम था कि 15 जुलाई 1949 तक उत्तर प्रदेश में कुल 2,057 किसान-जमींदार दंगे घटित हुए। इस उग्र परिस्थिति पर ठण्डा पानी जब पड़ा उत्तर प्रदेश सरकार ने जमींदारी उन्मूलन से सम्बन्धित कानून पास किया।

सन् 1941 में अखिल भारतीय **किसान सभा बिहटा** (Bihta) में विखण्डित हो गयी और फिर वामपथीं समूह (Leftist groups) कभी भी अपने की एक संगठन एक संगठन के रूप में जोड़ नहीं पाए। सोशलिस्टों ने हिन्द किसान पंचायत का गठन किया। 'क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी' (Revolutionary Socialist Party) तथा अन्य वामपंथी समूहों ने क्रान्तिकारी नेता **श्री योगेश चन्द्र चटर्जी** के नेतृत्व में एक संयुक्त किसान सभा (United Kisan Sabha) का गठन किया गया। पर इनमें से कोई भी संगठन प्रभावशाली साबित नहीं हुआ। केवल कम्युनिस्ट-प्रभाव व नेतृत्व से प्रभावित अखिल भारतीय किसान सभा उत्तरोत्तर शक्तिशाली होती गई और इसी के नेतृत्व में सन् 1946 और 1950 के बीच कुछ सर्वोत्तम किसान-आन्दोलन चलाये गये। इनमें महाराष्ट्र के वार्ली किसानों द्वारा सन् 1946-47 में चलाए गए आन्दोलन का उल्लेख किया जा सकता है।

प्रो. राजेन्द्र सिंह ने उत्तर प्रदेश में बस्ती जिले में हुए दो आन्दोलनों के विषय में लिखा है। एक तो सन् 1946 का जिहाद बोल आन्दोलन और दूसरा सन्

1970 का भूमि हड़पो आन्दोलन। इसमें से पहले का नेतृत्व कांग्रेस ने किया और दूसरे का साम्यवादियों ने।

परन्तु सबसे हिंसक तथा कटु कृषक संघर्ष या आन्दोलन तेलंगाना, त्रिपुरा तथा मणिपुर में हुए और इनमें भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित तेलंगाना आन्दोलन सर्वाधिक भंयकर था। सन् 1947 के मध्य से आरम्भ होकर अक्टूबर 1951 तक चलाने वाले इस आन्दोलन में हथियारबन्द किसानों ने पहले रजाकारों के विरुद्ध और बाद में भारतीय सेनाओं के विरुद्ध गोरिल्ला युद्ध चलाया। प्रायः 2,500 गाँवों में समानान्तर सरकार (Paraller Government) का गठन किया गया और कम्युनिस्ट दावे के अनुसार 10,00,000 एकड़ जमीन जमींदारों छीन कर कृषि-श्रमिकों तथा गरीब किसानों को बाँट दी गयी। संघर्ष को जारी रखने के लिए यह नियमित गोरिल्ला सैनिक टुकड़ी तैयार की गयी थी जो कि आवश्यकता पड़ने पर पहाड़ों तथा जंगलों में जा छिपती थी। इन आन्दोलन में लगभग चार हजार साम्यवादी कार्यकर्ता तथा किसान मारे गए एवं दस हजार लोग जेल गए। **प्रो. धनागरे** ने ठीक लिखा है, *"यदि सत्ता हथियाना तथा लम्बे अर्से तक वैसी स्थिति बनाए रखना आन्दोलन की सफलता का निर्धारक माना जाए तो भारत में कोई भी कृषक आन्दोलन तेलंगाना आन्दोलन से अधिक सफल नहीं कहा जा सकता।"*

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस समय महाराष्ट्र के **श्री शरद जोशी** किसानों के एक रहनुमा के रूप में कृषक आन्दोलन को एक नया आयाम, एक नयी दिशा देने के लिए क्रियाशील हैं। **श्रीधर** के अनुसार, यदि इस देश में **'घेराव'** आन्दोलन पश्चिम बंगाल के एक राजनैतिक नेता की देन है, तो 'रास्ता रोका' का श्री गणेश करने वाले बहुचर्चित नेता हैं **शरद जोशी**। आप अपनी ही धुन के धनी एक दृढ़ संकल्पी योद्धा हैं जिन्होंने संयुक्त राष्ट्र के अधिकारी के तौर पर सुख-सुविधायुक्त जीवन त्यागकर किसानों की हालत में सुधार को अपने जीवन का मकसद बना लिया। संयुक्त राष्ट्र संघ में अपने पदभार को छोड़कर वे जब लौटे तो इस देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ किसानों की पीड़ा का हरण करना ही उन्होंने अपना ईमान बना लिया। इस उद्देश्य से उन्होंने **शेतकारी संगठन** की स्थापना की और उन्होंने महाराष्ट्र में किसान-आन्दोलन की कमान सफलता के साथ सँभाली। उनका पहला आन्दोलन ही सफल हुआ। उनके द्वारा किसानों की समस्याओं के निवारण के लिए 'रास्ता रोको' का जो ढ़ंग अपनाया गया उनकी अनेक क्षेत्रों में कड़ी आलोचना भी हुई। किन्तु यह तथ्य भी स्मरणीय है कि *उनके इस नए* ढंग की ओर सन् 1980

से ही जनता की रुचि भी जगी। पंजाब में जब उग्रवादी गतिविधियाँ पराकाष्टा पर थीं तो चण्डीगढ़ में किसानों ने एक शान्तिपूर्ण **'रास्ता रोको'** आन्दोलन का चमत्कार कर दिखाया था। महाराष्ट्र के किसानों को उनकी फसलों का अधिक मूल्य दिलाने की माँग को लेकर **श्री शरद जोशी** ने जो आन्दोलन चलाया था, उसमें भी 5,000 से अधिक किसानों ने खुद को गिरफ्तार कराया था। आपकी मुख्य माँगों में कृषि-मूल्य आयोग को समाप्ति की माँग भी शामिल है। उनकी मान्यता यह है कि इस आयोग को समाप्त कर देने से देश की आर्थिक और राजनीतिक समस्या भी बड़ी सीमा तक सुलझ जायेगी। सरकार उनकी यह राय से सहमत नहीं थी।

स्वतन्त्र भारत के कृषक आन्दोलन का यह इतिहास किसानों को मसीहा कहे जाने वाले **चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैत** की अगुआई में चल रहे **'भारतीय किसान यूनियन'** के आन्दोलन के विवरण बिना निश्चित रूप से अधूरा ही रहेगा। **''भारतीय किसान यूनियन''** का गठन 1978 में हुआ था। कहने को तो किसान यूनियन शुरू से ही गैर-राजनैतिक रही, लेकिन अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई बार इसने रानैतिक हथकण्डे भी अपनाए। इस आन्दोलन में नए सिरे से प्राण फूँकने का सम्पूर्ण क्षेत्र इसके जुझारू नेता **चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैती** को जाता है। उत्तर प्रदेश में गैर-राजनैतिक आन्दोलन से जुड़े **चौधरी टिकैत** इस समय ऐसे अकेले नेता हैं, जिनका किसानों में जनाधार है। ठेठ देहाती भाषा में के 'परमात्मा' और 'सच्चाई' के भरोसे किसानों की लड़ाई लड़ रहे **'टिकैत'** ने न सिर्फ सरकार की चूलें हिला दी हैं, बल्कि सारे देश में अपार चेतना जगाने का श्रेय भी हासिल किया है। किसानों के आर्थिक हितों से ज्यादा फिक्र उन्हें 'देश के भाग्य विधाता' किसान के आत्म-सम्मान की है। कुछ वर्ष पहले तक तो शायद वे किसानों के स्थानीय नेता थे, लेकिन शामली, मेरठ, मुजफ्फरनगर औेर दिल्ली में आयोजित धरने और आन्दोलन के बाद उन्होंने और उसकी 'भारतीय किसान यूनियन' ने देश भर के किसानों में अनुपम जागरूकता पैदा कर दी है।

खेती और उससे जुड़ी दिक्कतों के अलावा समाज-सुधारों की तरफ भी **श्री टिकैत** की चिन्ता है। टूटे वैवाहिक रिश्तों को जोड़ने, गाँव के आपसी झगड़ों को थाने-कचहरी के बिना पंचायत में ही निपटाने, जबरन देहज वसूलने पर रोक की भी उन्होंने कई सार्थक कोशिशें की हैं। माँग शब्द से उन्हें चिढ़ है। वह कहते हैं— *''माँग भिखारी करता है—किसान अपना हक चाहता है।''*

दलित आन्दोलन
(Dalit Movements)

'दलित' शब्द से अभिप्राय, जैसा कि इस शब्द से ही स्पष्ट होता है, वह व्यक्ति या वर्ग है जिसका समाज में अत्यन्त निम्न स्थान है, जो उत्पीड़न का शिकार है तथा जिसका जीवन अभाव, दुःख एवं अपमान का जीवन है। हिन्दू समाज में दलितों को *अछूत* माना जाता रहा है। कहीं इन्हें *हरिजन* भी कहा गया है। प्रशासनिक भाषा में कथित अछूतों (दलितों) को *अनुसूचित जाति* (Scheduled Caste) कहा जाता है। दलितों की सबसे प्रमुख समस्या अस्पृश्यता रही है। अस्पृश्यता का इतिहास समाज में जाति व्यवस्था से जुड़ा हुआ है क्योंकि यह जाति व्यवस्था के साथ ही हमारे समाज में एक गम्भीर समस्या रही है। वैदिक काल में अस्पृश्यता शब्द का प्रयोग तो नहीं किया जाता था। परन्तु, ऐसे व्यक्तियों के लिए चण्डाल, डोम, अन्त्यज, निषाद आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा, जिनका स्तर लगभग अस्पृश्यों जैसा ही था। अस्पृष्टता के नाम पर हजारों वर्षों तक इन्हें अनेक मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया और इन पर अनेक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक विर्योग्यताएँ लगा दी गईं। प्राचीन समय में ब्राह्मण गुरु इनके बच्चों को शिष्य बनाना अपनी मानहानि एवं धर्म के विरुद्ध समझता था। इसका परिणाम यह था कि अछूत (दलित) लोग प्रायः शत-प्रतिशत अशिक्षित होते थे। दलित अनेक प्रकार के अत्याचारों और उत्पीड़न के शिकार हो गए थे।

समाज-सुधारकों द्वारा समझ-समझ पर अस्पृश्यता के निवारण के लिए निवारण के लिए आन्दोलन किए जाते रहे हैं। **महात्मा बुद्ध, रामानुज, कबीर, सेन, चैतन्य, नानक, नामदेव, तुकाराम, रैदास** आदि विद्वानों के नाम इन आन्दोलनों से जुड़े हुए हैं। स्वयं अस्पृश्य जातियों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में दक्षिण में ऐसे आन्दोलनों की शुरूआत की गई। **श्री ज्योतिबा फुले एवं डॉ. आम्बेडकर** ने अस्पृश्यों को संगठित करके ऐसे आन्दोलनों को आगे बढ़ाया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी अनेक संगठन, संघ व आश्रम अस्पृश्यता-निवारण तथा हरिजनोद्धार के कार्यों में लगे हुए हैं। इन सभी के प्रयासों को भी दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

अस्पृष्यता का निवारण के प्रयासों में स्वयं अस्पृश्य जातियों द्वारा किए जाने वाले आन्दोलनों का मुख्य स्थान है। उन्नीसवीं शताब्दी में दक्षिण में ऐसे आन्दोलनों की शुरुआत हुई क्योंकि दक्षिण में अस्पृश्यों पर अधिक कुठाराघात किया जाता था। इस आन्दोलन के अग्रणी नेता पूना के **श्री ज्योतिबा फुले थे,** जिन्होंने

'सत्य-शोधन समाज' की स्थापना करके अस्पृश्यों को उनके अधिकार दिलाने का प्रयास किया। बाद में **डॉ. आम्बेडकर** के नेतृत्व में यह आन्दोलन आगे बढ़ा। 1920 ई. में इनके नेतृत्व में **'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ'** एवं **'अखिल भारतीय दलित वर्ग फेडरेशन'** स्थापित किए गए जिनके माध्यम से अस्पृश्यों के अधिकारों की आवाज उठाई गई। 1931ई. में गोलमेज कॉन्फ्रेन्स में **डॉ. आम्बेडकर** इनके लिए पृथक निर्वाचन की माँग को स्वीकार कराने में सफल हो गए, परन्तु **गाँधी जी** ने इन्हें हिन्दुओं का ही अंग स्वीकार करते हुए अनशन प्रारम्भ कर दिया। 30 दिसम्बर, 1931 ई. को बम्बई में **पं. मदनमोहन मालवीय** की अध्यक्षता में एक विशाल सभा हुई और 1932 में सारे देश में अस्पृश्यता-निवारण के लिए **'अखिल भारतीय सेवक संघ'** की स्थापना की गई। इस संघ में अस्पृश्यों को उनके अधिकार दिलाने एवं निर्योग्यताओं को समाप्त कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस संघ के प्रयासों द्वारा इनके लिए 1,130 शिशु मन्दिर, 1,018 छात्रावास, 67 धर्मशालाएँ एवं 1,995 कुओं की व्यवस्था की गई तथा अस्पृश्यता विरोधी प्रचार में भी तीव्रता आई। इस संघ के प्रयासों के परिणामस्वरूप इनमें शिक्षा प्रसार हुआ तथा इनकी आर्थिक सिमिति में भी थोड़ा-बहुत सुधार आया।

(2) सवर्ण हिन्दुओं द्वारा आन्दोलन--अस्पृश्यता-निवारण आन्दोलन में सवर्ण हिन्दूओं एवं इनके द्वारा बनाए गए संगठनों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इनकी सामाजिक-आर्थिक निर्योग्यताओं को दूर करने के लिए **ब्रह्म समाज, आर्य समाज** तथा **रामकृष्ण मिशन** ने काफी प्रयत्न किया है। **गाँधी जी** के नेतृत्व में हरिजनाद्धार की दृष्टि में अनेक सुधार समितियों का गठऩ किया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी अनेक संगठन, संघ तथा आश्रम अस्पृश्यता-निवारण तथा इनके कार्य में लगे हुए हैं।

(3) सरकारी प्रयास--अंग्रेजी शासनकाल में ही अस्पृश्यता निवारण के सरकारी प्रयास प्रारम्भ हो गए थे। 1920 ई. में कांग्रेस ने अस्पृश्यता निवारण को अपने प्रयोग का एक महत्वपूर्ण अंग बनाया। 1936 ई. में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की स्थापना के बाद इनकी अवस्था सुधारने के प्रयास शुरू किए गए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने दलितों की समस्याओं के समाधान हेतु अनेक प्रयास किए हैं।

इन सब आन्दोलनों के परिणामस्वरूप दलित संगठित हुए हैं। उनकी बहुत-सी निर्भीग्यताएँ कम हुई हैं। उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में

उल्लेखनीय सुधार हुआ है। आरक्षण के लाभ पाकर वे उच्च पदों और सरकारी नौकरियों पर आसीन हैं। देश के निवर्तमान राष्ट्रपति **श्री के.आर. नारायण** दलित समुदाय से हैं। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश की निर्वतमान मुख्यमंत्री **सुश्री मायावती** भी दलित समुदाय की ही हैं। यद्यपि दलित जातियाँ अभी आर्थिक क्षेत्र में ऊँची जातियों से नीचे हैं।

महिला आन्दोलन
(Women Movements)

संसार के अधिकांश समाज पुरुष प्रधान होने के कारण समय-समय पर महिलाओं ने अपने शोषण तथा उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाई है। समान अधिकार आर्थिक स्वतन्त्रता, धार्मिक, संस्तुति, तलाक के अधिकर, मताधिकार, स्वतन्त्रता, शिक्षा के अधिकार आदि के सन्दर्भ में जागरुक हुई हैं। भारत में ऐसे अनेक कानून बने हैं जो मूलतः स्त्रियों के अधिकार से समन्धित हैं।

बम्बई के न्यायाधीश **रानाडे** (1842-1901) एक बहुत बड़े समाज-सुधारक थे। उन्होंने सन् 1881 में एक **'विधवा-विवाह-संघ'** (Widow Marriage Association) की स्थापना की और बाद में **प्रार्थना-सभा** से अपना नाता सन् 1889 में **पंडिता रमाबाई** ने मुम्बई में विधवा स्त्रियों के लिए **'शारदा सदन'** खोला। **रमाबाई ईसाई** थीं और अपने आश्रम की स्त्रियों को ईसाई बना लेती थीं। इसलिए सन् 1896 में **श्री कार्वे** ने **'हिन्दू विधवा आश्रम'** खोला।

राजा राममोहन राय का सबसे उल्लेखनीय कार्य सन् 1828 में **'ब्रह्म समाज'** की स्थापना थी। इस समाज की स्थापना उपनिषदों के आदेशों को सम्मुख रखकर की गई थी। उनकी मृत्यु के बाद **महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर** ने ब्रह्म-समाज का संचालन करते हुए समाज-सुधार के आन्दोलन को चलाया और खुले रूप से वेद और वेदान्त का प्रचार करना शुरू कर किया। उन्होंने हिन्दू-समाज को सुधारने के हेतु बहुपत्नी-विवाह का विरोध किया और विधवा-पुनर्विवाह व स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन किया। ब्रह्म समाज के संचालक के रूप में सुधार-आन्दोलन को चलाने वालों में **श्री केशवचन्द्र सेन** का नाम उल्लेखनीय है। सन् 1863 में उन्होंने ही सर्वप्रथम स्त्रियों के हेतु **'वामाबोधिनी'** नामक पत्रिका प्रकाशित की तथा जाति-भेद को ठुकराकर अन्तर्जातीय विवाह का खुलेआम प्रचार किया। आपके नेतृत्व में **ब्रह्म-समाज** का सन्देश बंगाल के गाँव-गाँव में पहुँचा।

इसके पश्चात् सन् 1875 में **स्वामी दयानन्द सरस्वती** ने 'आर्य-समाज' की

स्थापना की। इनका उद्देश्य न केवल हिन्दू-धर्म को पुनर्जीवित करना था बल्कि जाति-पाँति के भेदभाव, अन्तर्जातीय विवाह के सम्बन्ध में प्रतिबनध, विधवा-पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध आदि के विरुद्ध भी क्रियात्मक आन्दोलन चलाना था। आर्य-समाज **स्वामी दयानन्द** के आदर्शों के अनुसार आज भी इस देश के विभिन्न भागों में समाज-सुधार-कार्य चल रहा है।

राजा राममोहन राय के बाद **ज्योतिबा** ही थे जिन्होंने महिलाओं की मुक्ति के कार्य को सर्वाधिक प्रधानता दी। **ज्योतिबा** ने महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों व रूढ़ियों, बाल विवाह, बहुविवाह, केशवपन, नियोग, वैश्यागमन का पूरी शक्ति से विरोध किया। बाल विधवाओं के लिए उन्होंने **''बालहत्या प्रतिबन्धन गृह''** स्थापित किया। उन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन किया।

महिलाओं को सम्मान दिलाने के लिए **ज्योतिबा ने खोती प्रथा** का जोरदार विरोध किया। महाराष्ट्र में मराठा शासन काल में और विशेष तौर पर पेशवाई काल में खोती पद्धति का विकास हुआ। इसमें खोत ब्राह्मण होता था जो कि एक गाँव या कई गाँवों की भूमि का स्वामी होता था। खोत का काम शूद्रों को जमीन जोतने बाने के लिए देना और फसल के समय तीन चौथाई अनाज जबरन वसूलना होता था। शूद्र बहुओं को शादी की पहली रात उसी खोत के बंगले पर गुजारनी पड़ती थी। **ज्योतिबा** ने इस अमानवीय खोतीप्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई।

भारत में दलितों व महिलाओं के लिए शिक्षा धर्म की दृष्टि से निषिद्ध थी। **ज्योतिबा** ने इन्हीं वर्गों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध किया। 1848 में उन्होंने पूना दलितों के लिए पहला स्कूल खोला। पूना के सनातनी ब्राह्मणों ने दलितों के लिए स्कूल खोलने का काम को अधर्म घोषित करते हुए **ज्योतिबा** को समाज से बहिष्कृत करने की धमकी दी। परन्तु ये टस से मस नहीं हुए। 3 जुलाई 1957 को **ज्योतिबा** ने केवल लड़कियों के लिए एक स्कूल खोला। ज्योतिबा पहले भारतीय थे जिन्होंने लड़कियों के लिए स्वतन्त्र स्कूल खोला। जब इन्हें इस काम के लिए कोई शिक्षक न मिला तो अपनी पत्नी सावित्री को इसके लिए तैयार किया। इस प्रकार सावित्री भारत की प्रथम भारतीय शिक्षिका बनी। **ज्योतिबा** शिक्षा को शूद्रों अतिशूद्रों एवं महिलाओं की मुक्ति के लिए आवश्यक मानते थे। वे कहते थे विद्या बिना मति गई। मति बिना नीहति गई। नीति बिना गति गई। गति बिना वित्त गया। वित्त बिना शूद्र टूटे। इतने अनर्थ एक अविद्या ने किए।

इसके बाद सन् 1887 में समाज-सुधार के लिए एक नया संगठन प्रारम्भ किया गया जिसका नाम **'भारतीय समाज सम्मेलन'** (Indian Social Conference) रखा गया। इस सम्मेलन का काम बाल-विवाह को रोकना, दहेज-प्रथा को

समापत करना, विवाहों की अवस्था की उन्नति करना, स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना, सामाजिक शुद्धि तथा आत्मसंयम की शिक्षा देना, अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करना, अछूत वर्गों का सुधार करना तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता का बढ़ाना आदि था। यह सम्मेलन श्री रानाडे की अध्यक्षता में सराहनीय कार्य करता रहा।

इसी समय समाज-सुधार के कुछ प्रयत्न मुस्लिम-समाज-सुधारक सर सैय्यद अहमद खाँ के द्वारा भी हुए। सन् 1875 में उन्होंने एक शिक्षा संस्था की स्थापना की जोकि बाद में 'अलीगढ़ विश्वविद्यालय' के नाम से विख्यात हुई। सन् 1882 में रमाबाई ने पूना में प्रार्थना-समाज के अन्तर्गत हिन्दू-स्त्रियों के समाज-सुधार के लिए 'आर्य महिला समाज' की स्थापना की।

सन् 1906 और 1912 के बीच देश-भर में बहुत-से हिन्दू-विधवा आश्रमों की स्थापना हुई जिसमें मैसूर का 'विधवा-गृह' (1907), कलकत्ता का 'शिल्प आश्रम' (1907), बंगलौर का 'विधवा आश्रम' (1910), ढाका का 'दत्ता विधवा आश्रम', मद्रास का ब्राह्मण विधवा छात्रावास (1912) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सन् 1917 में दो महिलाओं, डॉ. एनी वेसेण्ट और श्रीमती काउसिन्स ने मद्रास में ''महिलाओं के भारतीय संघ'' (National Council of Women) की स्थापना की गई। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन सन् 1927 में बनाया गया। इसके द्वारा बाल-विवाह, विधवा-विवाह बहुपत्नी-विवाह, दहेज-प्रथा, स्त्री-शिक्षा आदि से सम्बन्धित सुधार कार्यक्रम चालू किए गए। अपनी 'हरिजन' पत्रिका के माध्यम से गांधी जी ने इस प्रकार के जनमत का निर्माण करने का प्रयत्न किया जिससे छुआछूत, जातिवाद, पर्दा-प्रथा, स्त्री-शिक्षा, विधवा-पुनर्विवाह आदि से सम्बन्धित कुप्रथाओं का अन्त हो सके। अपने जीवन के अन्तिम दिन तक गाँधीजी एक महान सुधारक बने रहे और विशेष रूप से हरिजनों के उत्थान के लिए प्रयत्न करते रहे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् कांग्रेस सरकार ने भारत को कल्याण-राज्य घोषित किया और समाज-सुधार के अनेक उत्तरदायित्वों को अपने ऊपर लिया। 'विशेष विवाह अधिनियम, 1954', हिन्दू-विवाह तथा विवाह विच्छेद अधिनियम, 1055, 'दहेज प्रतिबन्ध अधिनियम, 1961 (1886 तक संशोधित), अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955', तथा वेश्यावृत्ति (निवारण) अधिनियम 1956 (1986 तक संशोधित), भारत सरकार के द्वारा पारित कुछ ऐसे कानून हैं, जिनका प्रत्यक्ष उद्देश्य समाज-सुधार या सामाजिक कुप्रथाओं को रोकने का प्रयत्न करना है। समाज-कल्याण विभाग, राज्य तथा केन्द्रीय समाज-कल्याण मण्डल

आदि भी ऐसी राजकीय संस्थाएँ हैं जोकि आज समाज-सुधार-कार्यों में सक्रिय भाग ले रही हैं। समाज-कल्याण मण्डल प्रमुख कार्य समाज-सुधार के काम में लगी ऐच्छिक संस्थाओं को सहायता देना है। महिलाओं तथा अखिल भारतीय सम्मेलन, भारतीय महिला समिति, विश्वविद्यालय महिला संघ, अखिल भारतीय स्त्री शिक्षा संस्था, कस्तूरबा गाँधी स्मारक ट्रस्ट आदि के प्रयत्न किए। 1956 के हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम स्त्रियों एवं कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम, दहेज निरोधक अधिनियम 1961 आदि ने स्त्रियों को सुधारने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

आधुनिक युग में नारी ने पुरुषों के समकक्ष स्थान एवं अधिकार पाने के लिए कई स्त्री आन्दोलनों और संगठनों को जन्म दिया है। इन संगठनों ने कई मुद्दे उठाए हैं तथा उनको लेकर आन्दोलनों एवं प्रदर्शन भी किए गए हैं। इन मुद्दों में से प्रमुख हैं—पुरुषों के समान स्त्रीयों को अधिकार देने तथा दहेज के कारण महिलाओं को जला देना या प्रताड़ित करना, बलात्कार, शोषण, हत्या, स्त्रियों के साथ आमनवीय व्यवहार तथा पुलिस की ज्यादतियाँ आदि।

राजनेताओं, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं एवं महिला संगठनों ने नारी चेतना पैदा करने एवं उन्हें अपने अधिकारों से अवगत कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसी के कारण परिणास्वरूप सन् 1975 और वर्ष 2001 को अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया गया। सन् 1971 में भारत सरकार ने स्त्रियों की प्रस्थिति के बारे में एक समिति गठित की जिसने 1974 में स्त्रियों की उन्नति के बारे में कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। जिनका सर्वत्र स्वागत किया गया। स्त्रियों की समस्याओं एवं समाधान हेतु एक अखिल भारतीय संगठन भी है।

अनेक राज्यों में महिला विकास निगम स्थापित किए गए हैं। जो महिलाओं को तकनीकी परामर्श देने तथा बैंक व अन्य संस्थाओं से ऋण दिलाने एवं बाजार की सुविधा दिलाने का प्रयत्न करते हैं। भारत में महिला उद्यमिता में भी प्रगति हुई है। और आज अनेक महिलाएँ अपने स्वयं के कारखाने एवं उद्योग चला रही हैं।

10

सामाजिक विचलन
(Social Deviance)

प्रत्येक समाज में मानव व्यवहार को दो रूपों में देखा जा सकता है—पहला, समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार या अनुरूपता, दूसरा, समाज द्वारा अस्वीकृत व्यवहार (विचलित व्यवहार) या विचलन। वास्तव में मनुष्य इन दोनों प्रकार के व्यवहारों से संचालित होता है। जब व्यक्ति का व्यवहार या आचरण सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं, परम्पराओं, आदर्शों, प्रतिमानों के अनुरूप होता है तो ऐसे व्यवहार को समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार की श्रेणी में रखा जाता है और इसे समाजशास्त्रीय शब्दावली में सामाजिक अनुरूपता कहा जाता है। व्यक्ति के ऐसे व्यवहार की सर्वत्र प्रशंसा होती है और उसे समाज में सम्मान प्राप्त है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का ऐसा व्यवहार समाज द्वारा पुरस्कृत किया जाता है।

इसके विपरीत, जब व्यक्ति का व्यवहार या आवरण सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं, परम्पराओं, आदर्शों, प्रतिमानों आदि के अनुकूल नहीं हाता तो व्यक्ति के ऐसे व्यवहार को समाज द्वारा अस्वीकृत व्यवहार या विचलित व्यवहार की श्रेणी में रखा जाता है और समाजशास्त्रीय शब्दावली में इसे **सामाजिक विचलन कहा जाता है।** समाज में ऐसे व्यवहार को करने वाले व्यक्ति को छूट नहीं दी जा सकती क्योंकि ऐसा करने से सामान्य सामाजिक सम्बन्धों को क्षति पहुँचती है।

इस अध्याय में हम सामाजिक सामाजिक विचलन के दो प्रमुख पक्षों—अपराध और हिंसा पर चर्चा करेंगे।

अपराध की व्याख्या
(Interpretation of Crime)

प्रत्येक व्यक्ति की कुछ आवश्यकताएँ, इच्छाएँ व आकांक्षाएँ हुआ करती हैं और व्यक्ति यह चाहता है कि इन इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति समाज के प्रचलित ढंग या सर्वमान्य तरीकों और राज्य द्वारा बनाए गए कानून के अनुसार होती रहे ताकि व्यक्ति की समाज में बेहतर स्थिति व स्थान बना रहे; लेकिन कभी-कभी व्यक्ति की आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति समाज द्वारा मान्य ढंग या कानून के अनुसार नहीं हो पाती। अतः या तो व्यक्ति की इच्छाएँ दबी रह जाती हैं या व्यक्ति उनको पूरा करने के लिए समाज-विरोधी या कानून-विरोधी आचरण या व्यवहार करता है। इस प्रकार मोटे तौर पर व्यक्ति के समाज-विरोधी या कानून-विरोधी व्यवहार को अपराध कहा जाता है और व्यक्ति को अपराधी।

अपराध की परिभाषा और अर्थ
(Definition and Meaning of Crime)

अपराध की दो परिभाषाएँ हो सकती हैं—**कानूनी** तथा **गैर कानूनी** या **सामाजिक** परिभाषा। दण्ड-न्याय की व्यवस्था कानूनी उपागम से समझी जा सकती है क्योंकि सरकारी आँकड़े अपराधों की कानूनी परिभाषा पर आधारित होते हैं। हाल **जिरोम** के अनुसार अपराध कानूनी तौर पर वर्जित सभी कार्य हैं जिनका सामाजिक हितों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है जिसका उद्देश्य अपराधिक है और जिसके लिए कानूनी तौर से दण्ड निर्धारित हैं। एक कृत्य तब तक अपराध नहीं माना जा सकता जब तक उसमें ये पाँच विशेषताएँ न हों—(1) कानून द्वारा वह वर्जित हो, (2) उसका कोई अभिप्राय हो, (3) वह समाज के लिए हानिकारक हो, (4) उसका अपराधिक उद्देश्य हो और (5) उसके लिए कोई दण्ड निर्धारित हो।

गैर कानूनी और सामाजिक शब्दों में अपराध की प्रचलित परिभाषा है—*"मानवीय समूहों को व्यवहार के आदर्श नियमाचारों का उल्लंघन अपराध है।"* अपराध सामाजिक कार्य हैं जो समाज में प्रचलित मानदण्डों की दृष्टि में समाज के कल्याण के लिए हानिकारक हैं और उनके सम्बन्ध में कार्यवाही संगठित समाज द्वारा परीक्षित प्रक्रियाओ (tested procedures) के द्वारा की जानी चाहिए। अपराध की कानूनी और सामाजिक परिभाषाओं के बीच सामंजस्य बिठाते हुए विद्वानों ने कहा कि कानूनी परिभाषा "अपराधी" का लेबिल (lable)

देने के लिए उपयोग की जा सकती है। परन्तु इस वर्ग में ऐसे व्यक्तियों को भी शामिल करना चाहिए जो अपराध को स्वीकारते हैं पर न्यायालय से दोषी सिद्ध नहीं हुए।

इस प्रकार, हमने देखा कि अपराध की सामाजिक परिभाषा अपराध के स्त्रोत के लिए समाज के स्वरूप पर दृष्टि डालती है न कि व्यक्ति (अपराधी) के जैविकीय या मनोवैज्ञानिक स्वरूप पर। इस सम्बन्ध में, प्रसिद्ध समाजशास्त्री **रॉबर्ट के. मर्टन** ने अपनी पुस्तक '*Social Theory and Social Structure*' में लिखा है कि सामाजिक संरचना व विसंगति में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसी प्रकार सामाजिक संरचना और विचलित व्यवहार भी एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। दूसरे शब्दों में, सामाजिक विचलन सामाजिक संरचना के कारण होता है न कि विघटित व्यक्तित्व के कारण।

आधुनिक युग में राज्य के नियमों का उल्लंधन अपराध कहलाता है जबकि प्राचीन समय में ईश्वरीय व्यवस्था का उल्लंघन अपराध कहलाता था। समाजशास्त्र की दृष्टि से, वह सभी कार्य, जो सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध होते हैं, अपराध की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। जैसा कि इस सम्बन्ध में **मैनहिक** ने कहा है, *"अपराध कानून से ही सम्बन्धित नहीं होते।"* अपराध की धारणा सभी समस्याओं में एक सी नहीं होती। किसी समाज या स्थान पर जो कार्य अपराध माने जाते हैं, हो सकता है कि वह दूसरे देश या समाज में केवल त्रुटि माने जाते हों। उदाहरणार्थ, सार्वजनिक स्थानों पर शराब पीना भारतीय समाज में एक अपराध है, परन्तु अमेरिका जैसे समाजों में यह समाज-विरोधी कार्य न होकर एक साधारण कार्य कहलाता है। अतः अपराध की परिभाषा सभी समाजों में तथा सभी कालों में एक-सी नहीं होती। समाशास्त्रीय दृष्टिकोण से, सामाजिक आदर्शों एवं नियमों के विरुद्ध कार्य करना अपराध कहलाता है और ऐसा कार्य करने वाले व्यक्ति को अपराधी के नाम से पुकारते हैं।

आपराधिक व्यवहार की व्याख्या
(Interpretation of Crimimal's Behavior)

अपराध एक-सार्वभौमिक समस्या है जो प्रत्येक समाज में किसी-न-किसी रूप तथा किसी-न-किसी मात्रा में विद्यमान रहता है। अपराध का सम्बन्ध मानव-व्यवहारों को है, किन्तु सभी मानव-व्यवहार अपराध की सीमा में नहीं आते हैं। अपराध की प्रकृति इतनी अधिक जटिल है कि आपराधिक व्यवहार की कोई

एक सर्वमान्य व्याख्या नहीं की जा सकती है। इसलिए, अन्य कई सामाजिक घटनाओं की तरह आपराधिक व्यवहार की व्याख्या भी विभिन्न समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न रूपों में की है। हम यहाँ अपराध के चार कारणों की व्याख्याएँ करेंगे।

अपराध के जैविक कारक
(Biological Factors of Crime)

अपराध के अनेक जैविक कारक बताए गए हैं। अपराध के जैविक कारक जन्म से या शरीर से सम्बन्धित होते हैं। अपराध में निम्नलिखित जैविक कारक सहायक बताए गए हैं–

(1) आयु (Age)–अपराध शास्त्रियों के अनुसार प्रायः युवावस्था में अपराध अधिक किए जाते हैं। इलियत तथा मैडिल ने लिखा है कि अपराध सम्बन्धी आंकड़ों का विश्लेषण करने को पता चलता है कि इन अपराधियों में अधिक संख्या युवा वर्ग की होती है, जोकि अधिकतर मानसिक संघर्ष का शिकार होते हैं। अन्वेषणों से यह भी पता चलता है कि कम गम्भीर अपराध 17 स 24 वर्ष की आयु तक तीव्र गति से किए जाते हैं तथा गम्भीर अपराध 20 से 26 वर्ष की आयु में। इस आयु में व्यक्ति शारीरिक रूप से सक्षम तथा साहसी होता है। यौन सम्बन्धी अपराध अधिकतर प्रौढ़ अवस्था में किए जाते हैं। भारतीय आँकड़ों के अनुसार पता चलता है कि भारत में 61.8 प्रतिशत अपराधी 16 से 21 वर्ष की आयु के हैं।

(2) लिंग (Sex)–अधिकतर पुरुष ही अपराध करते हैं। इसका कारक यह है कि पुरुष का स्वभाव आक्रमणशील (Aggressive) होता है। लड़कियों का प्रत्येक व्यवहार माताओं द्वारा निर्देशित होता रहता है। इसी से लड़कियाँ अधिकतर नियन्त्रित रहती हैं तथा वे लड़कियाँ, जों नियन्त्रण से भाग निकलती हैं, अवैध रूप से गर्भवती हो जाती हैं। किन्तु पौलॉक ने बताया है कि, *''स्त्रियों का एक बड़ा वर्ग बलात् धन प्राप्त करने (Extortion) ,भूणहत्या (Abortion), ब्लैकमेल (Blackmail) तथा उठाईगीरी (Shoplifting) यदि अपराधी कार्यों को करता है, जो कि समाज की दृष्टि से ओझल है।''*

(3) शारीरिक दोष (Physical Defects)–कुछ विद्वान् शारीरिक दोषों को अपराध का कारक मानते है। उदाहरणर्थ, **लोम्ब्रोसो** के अनुसार अपराधियों में जन्म से ही विशेष प्रकार के शारीरिक लक्षण पाए जाते हैं, एक अपराधी की कई शारीरिक असामान्यताएँ (abnormalities) होती हैं। इसलिए वह कई विशेषताओं

और क्षत चिन्हों (shigmata) से पहचाना जा सकता है, जैसे– असममित चेहरा बड़े कान, बहुत अधिक लम्बी बाहें, पिचकी हुई नाक, पीछे की ओर झुका हुआ ललाट, गुच्छेदार और कुंचित (crispy) बाल आदि। परन्तु **गोरिग** ने इसका खण्डन करते हुए इस बात पर अधिक बल दिया कि अपराधी शारीरिक दृष्टि से सामान्य व्यक्तियों के समान होता है। इसके होते हुए भी **गोरिग** ने यह बताया कि अंग्रेज अपराधी सामान्य जनता से कम वजन के छोटे होते हैं। **स्लेस्टर** के अनुसार भी अपराधियों की लम्बाई विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों से 2 इंच कम थी। **हट्टन** ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं।

(4) प्रजाति तथा जन्म-स्थान (Race and Nativity)–प्रजाति तथा जन्म-स्थान भी अपराध के कारक बताए गए हैं। भारत में पहले बहुत सी ऐसी अपराधी जातियाँ पाई जाती थीं जिनमें अपराध का परिवार द्वारा प्रशिक्षण दिया जाता था और अपराध करना गौरव का सूचक था। कुछ प्रजातियों को भी अधिक अपराध करने में जोड़ा गया है। उदाहरणार्थ, नीग्रो, श्वेतो की अपेक्षा अधिक अपराध करते हैं। लेकिन यह कारक पक्षपात युक्त भी हो सकता है, क्योंकि ऐसे दृष्टिकोण दृष्टि से खरे नहीं उतरते हैं।

(5) वंशानुक्रमण (Heredity)–कुछ अपराधशास्त्रियों जैसे **लोम्ब्रोसो गैरोफैलो, फैरी** आदि का विचार था कि अपराधी जन्म से ही अपराध प्रवृति लेकर आता है। वंशानुक्रमण के द्वारा व्यक्ति में जन्म से ही अपराधी-प्रवृति आ जाती है और वह अपराधी बन बैठता है। इसे **'जन्मजात अपराधी'** सिद्धान्त भी कहा जाता है। परन्तु इसे आज स्वीकार नहीं किया जाता है।

अपराध के मनोवैज्ञानिक कारक
(Psychological Factors of Crime)

अपराध के अनेक मनोवैज्ञानिक कारक भी बताए गए हैं। ऐसे कारक व्यक्ति की मनोदशा से सम्बनिधत होते हैं। अपराध के निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक कारक बताए गए हैं–

(1) मानसिक कमी (Mental deficiency)–अपराधशास्त्री **गोडार्ड** के मतानुसार मानसिक दुर्बलता अपराध का एकमात्र कारक है। दुर्बल मस्तिष्क का व्यक्ति अपने द्वारा किए गए कार्यों के परिणाम के बारे में सोच सकता है और गलत कार्यों को करने के लिए सरलता से प्रेरित हो जाता है। परन्तु **एडलर** के अनुसार ज्यादातर अपराधी बौद्धिक स्तर में सामान्य व्यक्ति के समान होते हैं।

केवल वेश्याएँ तथा यौन सम्बन्धी अपराधी बुद्धि-स्तर कम होते हैं।

(2) **मानसिक रोग** (Mental disease)—कुछ मानसिक रोग, व्यक्तिगत तथा सामाजिक कुशलता में बाधा डालते हैं जिससे व्यक्ति का व्यवहार असामान्य हो जाता है। न्यूरोसिस तथा साक्रोसिस कुछ इसी प्रकार के रोग हैं। सामान्यतः कारोगारों के अन्दर मानसिक रोगों से पीड़ितों की संख्या अधिक पाई जाती है। इस कारण इसको अपराध के मुख्य कारकों में से एक माना जाने लगा है। परन्तु इसका एक कारक कारागारों की खराब हालत भी हो सकती है, क्योंकि मानसिक रोग के विषय में जितने अध्ययन किए गए हैं वे सब कारागारों के अन्दर ही के हैं बाहर के नहीं। इसलिए इस कारक को इतनी महत्ता नहीं देनी चाहिए।

(3) **संवेगात्मक अस्थिरता और संघर्ष** (Emotional instability and conflicts)—मनोवैज्ञानिकों के अनुसार तनाव का अन्त अर्थात् निवारण अपराध ही होता है। इस प्रकार, यह सिद्ध होता है कि अपराधियों में जब संवेगात्मक संघर्ष होता है, तो वह हीनता की भावनाओं को हिंसात्मक कार्यों के द्वारा सन्तुष्ट करके अपने को आत्मविश्वासी तथा बहादुर समझते हैं। डब्ल्यू.ए. ह्वाइट ने संवेग को तीन भागों में बाँटा है—प्रेम, घृणा तथा अपराध। एक असफल प्रेमी आत्महत्या करना उचित समझता है। बर्ट के अध्ययन में 47.10 प्रतिशत व्यक्ति संवेगात्मक अस्थिरता वाले हीले एवं बोनर के अध्ययन में 91 प्रतिशत व्यक्ति संवेगात्मक अस्थिरता से ग्रस्त पाए गए। इससे यह पता चलता है कि मनुष्य जब अपनी इच्छओं को पूरा नहीं कर पाता है तो वह संवेगात्मक अस्थिरता का शिकार हो जाता है जिसके कारण वह अपराध करने लगता है।

(4) **चरित्रहीनता** (Characterlessness)—कुछ व्यक्तियों का चरित्र बहुत ही दूषित होता है। इनकी दृष्टि में सामाजिक आदर्श तथा मान्यताओं का महत्व नहीं होता। इस हेतु ऐसे चरित्रहीन व्यक्ति अपराध करने लगते हैं।

अपराध के आर्थिक कारक
(Economic Factors of Crime)

अपराध के प्रमुख आर्थिक कारक निम्नलिखिंत हैं—

(1) **आर्थिक स्थिति** (Economic status)—मावरर के अनुसार यह धारणा बार-बार व्यक्ति की गई है कि आर्थिक दशा अपराध के लिए मुख्य भूमिका बनती है। यह निष्कर्ष कुछ अंशों तक इसलिए मान्य है कि अपराध के मुख्यतः अपहरण अथवा सम्पति अपहरण का प्रयास पाया जाता है। अपराध मुख्यतः

आर्थिक दशा की देन है। नर हत्या व्यक्ति के विरुद्ध अपराध समझी जाती है, परन्तु यह सम्पति सम्बन्धी झागड़ों के कारण भी हो सकती है। वेश्यावृत्ति सामाजिक आदर्श के विरुद्ध अपराध समझी जाती है, परन्तु स्त्री के दृष्टिकोण से यह आर्थिक मजबूरी हो सकती है। बेकारी, स्त्रियों का नौकरी करना, व्यापार की गिरावट, व्यापार चक्र, बच्चे का नौकरी करना, निर्धनता व्यापारिक मनोरंजन, आर्थिक दुरुपयोगिता, वेश्यागमन, जुआ तथा मद्यपान आदि आर्थिक दशाएँ अपराध को प्रेरित करती हैं। गम्भीर अपराध भी आर्थिक दशाओं की देन कहा जा सकता है।

वैन-कैन—के अनुसार सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधों का अधिकतर अप्रत्यक्ष कारक खराब आर्थिक दशा होती है। प्रत्यक्ष कारक अत्यन्त आवश्यकता और घोर दरिद्रता है। भौतिक समृद्धि साधारणतः महत्त्वपूर्ण मूल प्रवृत्तियों को भड़काती है, मद्य सेवन को बढ़ाती है और इसलिए नैतिकता के विरुद्ध अपराधों को बढ़ाती है। इसी विचारधारा का समर्थन डी. **थॉमस** ने भी किया है तथा यह बताया है कि मकान तथा दुकान तोड़कर चोरी करना, डकैती, सेंध लगाना आदि अपराध आर्थिक गिरावट के समय अधिक पाए जाते हैं और समृद्धिकाल में यौन सम्बन्धी अपराध अधिक पाए जाते हैं।

(2) व्यापारिक स्थिति (Business cycle)—व्यापार की गिरावट के कारण रोजगार में कमी पड़ जाती है, माल का विकास रुक जाता है, पैसे की कमी पड़ जाती है और इससे समाज में भ्रष्टाचार और अपराध बढ़ने लगते हैं।

(3) कम मजदूरी और बेरोजगारी (Less wages and unemployment)— जब मजदूरी काफी मिलती है तथा बेरोजगर भी अच्छी प्रकार से मिलता है, तो व्यक्तियों में सम्पति सम्बन्धी अपराध बहुत कम पाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल बलात्कार जैसे अपराध पाए जाते हैं। इसके विपरीत, जब समाज में बेरोजगारी अधिक होती है और मजदूरी कम होती है तो समाज में अधिक अपराध पाए जाते हैं।

(4) औद्योगीकरण तथा नगरीकरण (Industrialization and urbanization)—समाज में अपराध की प्रवृत्ति को जन्म देने में औद्योगीकरण और नगरीकरण का महत्त्वपूर्ण हाथ है। औद्योगीकरण तथा नगरीकरण आज के युग में ऐसी व्यवस्था है जो पारिवारिक नियन्त्रण को शिथिल कर देती है, जिसके कारण व्यक्ति अपराध करने लगता है। इसका कारण यह है कि ऐसे क्षेत्रों में अपरिचितता अधिक पाई जाती है तथा प्राथमिक सम्बन्ध नहीं के बराबर होते हैं और ऐसी दशा में गलत

कार्यों को रोकने वाला कोई नहीं होता है। औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के कारण गन्दी बस्तियों का विकास होता है जिससे अपराध करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। इनके कारण प्रतिस्पर्द्धा को अत्यधिक बढ़ावा मिलता है और मनुष्य धन प्राप्त करने के लिए अवैधानिक तरीकों का प्रयोग करने लगता है।

(5) व्यावसायिक मनोरंजन (Professional recreation)—आज के युग में मनोरंजन भी व्यवसाय है। सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, क्लब, रेस्ट्रां तथा होटल इत्यादि मनोरंजन के व्यावसायिक माध्यम हैं। इनमें मनोरंजन प्रस्तुत करने वाले अपने लाभ की दृष्टि से प्रोग्राम अथवा फिल्म बनाते हैं। यही कारण है कि कई फिल्मों का बालाकों के चरित्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कई बाल युवा अपराधी पकड़े जाने पर बताते हैं कि उन्होंने अपराध की प्रेरणा और तरीका अमुक फिल्म से सीखा है। रेडियो ही आमतौर पर सस्ते फिल्मी गानों का प्रसारण करता है। क्लब जुए के अड्डे हैं और रेस्ट्रां के 'नग्न और कुत्सित नृत्य' कैबरे के केन्द्र बने हैं। ये सब अपराध की वृत्ति को प्रेरित करते हैं।

(6) निर्धनता (Poverty)—जहाँ निर्धनता के अनेक अभिशाप हैं वहाँ एक महत्त्वपूर्ण अभिशाप यह भी है कि निर्धनता समाज में अपराध को बढ़ावा देती है। जब व्यक्ति अपने दायित्व को सामान्य रूप से निभाने में विफल हो जाता है तो अपराध कर बैठता है। जब व्यक्ति निर्धनता से घिरा होता है तो वह अपनी सभी नैतिक मान्यताओं को नष्ट कर देता है और अपने परिवार का जीवन चलाने के लिए अपराध करने लगता है।

अपराध के समाजशास्त्रीय कारक
(Sociological Factors of Crime)

इस सिद्धान्त की स्थापना किसी विशेष समय पर नहीं हुई क्योंकि सभी सिद्धान्तों में समाजशास्त्रीय मान्यता का प्रयोग कम अथवा अधिक मात्रा में किया जाता है। इस सम्प्रदाय के केन्द्रीय धारणा यह है अपराध उन्हीं प्रक्रियाओं की देन है, जिनसे समाज में अन्य प्रकार के व्यवहार प्रभावित होते हैं। कुछ समाजशास्त्री यह मानते हैं कि सामाजिक संगठन न्यूनतम होने के कारण अपराध होता है। समाज में कुछ असहयोगात्मक प्रक्रियाएँ (जैसे संघर्ष, प्रतिस्पर्द्धा आदि) हमेशा चलती रहती हैं जो अपराधी व्यवहार करने के लिए प्रेरित करती हैं। इस सम्प्रदाय में सदरलैण्ड का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इसके अनुसार संगति (Association) अपराध का कारक है अर्थात् अपराध जन्मजात न होकर बुरी

संगति में सीखे जाते हैं। इनके अनुसार व्यक्तिगत मित्रता, निष्क्रिय समूहों की सदस्यता तथा अन्तर्क्रियात्मक समूहों की संगति सामान्य व असामान्य व्यवहार को प्रोत्साहित करती है। इन्होंने सामाजिक संगठन की प्रकृति को भी अपराध से जोड़ने का प्रयास किया है। टैफ्ट के अनुसार भी अपराध सामाजिक विघटन से सम्बन्धित है। टैफ्ट के अनुसार अपराध सांस्कृतिक संगठन की प्रकृति पर आधारित होता है तथा इन्होंने संस्कृति के आधार पर बलात्कार जैसे अपराधों को समझने पर बल दिया है। ऑगबर्न ने अपराध का मुख्य कारक सामाजिक परिवर्तन बताया है। सांस्कृतिक विड़म्बना संक्रमण की स्थिति पैदा कर देती है जिससे अपराधी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार समाज में होने वाले परिवर्तन अपराध की दर को प्रभावित करते हैं।

दुर्खीम के विचार–दुर्खिम ने सबसे पहले 'विसंगति' (Anomie) की अवधारणा को अपनी कृति *'The Division of Labour in Society'* (1813) में विशेषकर उस स्थान पर विकसित किया है, जहाँ कि उन्होंने श्रम-विभाजन के सामान्य तथा व्याभिकीय (Pathological) परिणामों का उल्लेख किया है। **दुर्खीम** के अनुसार मनुष्य की असंख्य मानसिक, शारीरिक, आर्थिक राजनीति, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि आवश्यकताएँ होती हैं और प्रत्येक व्यक्ति को इन आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति चाहता है। मगर समाज-व्यवस्था व संगठन को बनाए रखने के लिए उन्हें मनमाने ढंग से कार्य करने की अनुमति समाज नहीं देता। अपितु उन पर सामूहिक नियमों या अज्ञाओं के द्वारा सामूहिक नियन्त्रण की व्यवस्था करता है।

दुर्खीम का विचार है कि एक बार जब समाज में विसंगति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो फिर वह छूत की बीमारी की तरह फैलती जाती है और सम्पूर्ण समाज में मूल्यविहीनता व आदर्श विहीनता की स्थिति बन जाती है। **विसंगति या वैयक्तिक विचलन** की स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति अपने मनमाने ढंग से अपनी आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति करने में जुट जाता है। ऐसा करते हुए न तो वह समाज की परवाह करता है, न लोक-लाज या निन्दा की और न ही सामाजिक आदर्शों की। उसके लिए अपना स्वार्थ सबसे ऊपर होता है। वह व्यक्तिगत दायरे से निकलकर समाज की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर सामाजिक विचलन की स्थिति उत्पन्न कर देता है।

मार्टन ने भी **दुर्खीम** के विचारों का समर्थन किया है। मार्टन के अनुसार सामाजिक तथा सांस्कृतिक संरचनाओं के विविध तत्वों में दो तत्व विशेष रूप से

महत्त्वपूर्ण हैं–पहला, सांस्कृतिक लक्ष्य और दूसरा, संस्थागत आदर्श नियम। ये सांस्कृतिक लक्ष्य सामान्य मानवीय भावनाओं तथा प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हिंसा
(Violence)

जैसे-जैसे समाज का विकास होता जा रहा है वैसे-वेसे समाज में हिंसा की प्रवृति भी बढ़ती जा रही है। आधुनिक समाज में हिंसा के नए-नए साधन भी विकसित हो रहे हैं।

भिन्न-भिन्न समाजों में हिंसा के भिन्न-भिन्न तरीके अपनाए जाते हैं। आदिम समाज में हिंसा फैलाने के साधनों के रूप में पत्थर, लाठी आदि का प्रयोग होता था, आधुनिक समय में विज्ञान की उन्नति ने हिंसा के नए-नए साधन विकसित किये हैं। हिंसा के आधुनिकतम साधन के रूप में "इराक द्वारा अमेरिका पर चेचक के वायरस द्वारा हमले की आशंका से पूरा विश्व चिन्तित था।"

हिंसा का अर्थ
(Meaning of Violence)

हिंसा क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्न विचारकों के भिन्न भिन्न विचार हो सकते हैं, लेकिन सामान्य रूप से हिंसा की निम्नलिखित परिभाषा दी जाती है, *"हिंसा किसी व्यक्ति या समाज के विरुद्ध किया गया ऐसा आपराधिक कार्य है, जिसमें व्यक्ति या समाज को या मानसिक भय एवं कष्ट हो।"*

इस परिभाषा से स्पष्ट है, कि हिंसा किसी व्यक्ति या समाज के विरुद्ध किया गया ऐसा कार्य है जिसमें व्यक्ति या समाज को मानसिक पीड़ा होती है तथा शारीरिक कष्ट भी होता है।

हिंसा के आवश्यक तत्व
(Main Elements of Violence)

हिंसा के प्रमुख आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं–

(1) अपराध–हिंसा का एक प्रमुख तत्व अपराध है, हिंसात्मक कार्य से ही अपराध का बोध हो जाता है। अपराध के बिना हिंसा सम्भंव नहीं है। जैसे सरकार द्वारा जब किसी व्यक्ति को फांसी दी जाती है तो हम इसे हिंसात्मक कार्य नहीं कहेंगे, लेकिन जब कोई व्यक्ति किसी सड़क पर चलते व्यक्ति को चाकू मारकर उसका बेग छीन ले जाता है तो यह कार्य हिंसात्मक है और इसमें अपराध हो रहा है।

(2) मानसिक एवं शारीरिक कष्ट—हिंसात्मक कार्य में हिंसापीड़ित एवं हिंसात्मक व्यक्ति दोनों को ही कष्ट होता है। हिंसापीड़ित व्यक्ति को मानसिक एवं शारीरिक दोनों कष्ट होते हैं तो हिंसात्मक व्यक्ति को भी कहीं न कहीं मानसिक पीड़ा आवश्यक होती है।

हिंसा के प्रकार
(Types of Violence)

हिंसा मुख्यतः दो प्रकार की होती है—

I. मानसिक हिंसा (Mental Violence)

मानसिक हिंसा को दो भागों में बाँटा गया है—

(i) व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा—व्यक्ति के विरुद्ध मानसिक हिंसा वह हिंसा है जिसमें किसी व्यक्ति को मानसिक रूप से कष्ट दिया जाता है। जैसे विवाह के बाद भी अनेक स्त्रियों को इस बात के लिए मानसिक कष्ट दिया जाता है कि वह अपने मायके से और धन की व्यवस्था करे। इसके अलावा गाली-गलौच करना, ताने मारना, धमकी देना, भावनात्मक दबाव डालकर वह सब करवाना जो स्त्री मन से करना नहीं चाहती है। यदि किसी व्यक्ति के बच्चे का अपहरण कर उसे धमकी दी जाए कि यदि उसे बच्चा चाहिए तो इतनी रकम लेकर यहाँ पहुँचा जाओ, यह भी मानसिक हिंसा का ही उदाहरण है क्योंकि इसमें व्यक्ति को बहुत अधिक मानसिक पीड़ा होती है।

(ii) समाज के विरुद्ध हिंसा—समाज के विरुद्ध मानसिक हिंसा वह हिंसा है जिसमें समाज में रह रहे विभन्न लोगों को मानसिक रूप से कष्ट होता है। जैसे भारत पाकिस्तान के सम्बन्धों को लेकर परमाणु हथियारों के प्रयोग का भय दोनों देशों के नागरिकों को है तथा वर्तमान में इराक एवं अमेरिका के सम्बन्धों को लेकर चेचक के वायरस द्वारा हमले का भय पूरी दुनिया में है।

II. शारीरिक हिंसा (Physical Violence)—शारीरिक हिंसा को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(i) व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा—व्यक्ति के विरुद्ध शारीरिक हिंसा वह हिंसा है जिसमें व्यक्ति को शारीरिक रूप से कष्ट होता है। भारत में महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराधों में व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। भारतीय नारी हिंसा का सबसे ज्यादा शिकार होती है। विवाह के बाद कई घरों में

नारी को उसकी सास, ननद, देवर एवं पति द्वारा बेरहमी से पीटा जाता है, यहाँ तक की उसे कभी-कभी जला भी दिया जाता है। राह चलती लड़की का बलात्कार किया जाता है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय के महिला एवं विकास विभाग द्वारा प्रदर्शित आंकड़ों के अनुसार 54 मिनट पर भारत में एक महिला के साथ रेप होता है। हर 102 मिनट पर एक दहेज हत्या होती है। हर सात मिनट पर परिवार के अन्दर एक महिला के विरुद्ध कोई न कोई हिंसक घटना होती है। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की घटनाएँ पूरे विश्व में बढ़ रही हैं। अमेरिका जैसे राष्ट्र में हर 15 सेकेण्ड में एक महिला अपने पति द्वारा पीटी जाती है। यह सब व्यक्तित्व के विरुद्ध हिंसा का ही उदाहरण है। इसमें व्यक्ति को शारीरिक कष्ट के अलावा मानसिक पीड़ा भी होती है।

(ii) समाज के विरुद्ध हिंसा—समाज के विरुद्ध शारीरिक हिंसा वह हिंसा है जिसमें समाज में रह हरे विभिन्न लोगों को शारीरिक कष्ट होता है। जैसे अमेरिका द्वारा जापान के दो प्रमुख शहरों (हीरोसीमा, नागासाकी) में परमाणु बम से हमला करना जिसमें अत्यधिक धन-जन की हानि हुई समाज के विरुद्ध शारीरिक हिंसा का उदाहरण है। हाल में गुजरात के अक्षरधाम मंदिर में हुआ आतंकवादी हमला शारीरिक हिंसा का उदाहरण है।

यह स्पष्ट है कि जब भी व्यक्ति या समाज के विरुद्ध शारीरिक हिंसा होती है तो उसमें मानसिक हिंसा भी देखने को मिलती है।

हिंसा की उत्पत्ति
(Rise of Violence)

हिंसा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित कारण प्रमुख हैं—

(1) बदले की भावना—हिंसा की उत्पत्ति का एक प्रमुख कारण बदले की भावना है। वर्तमान समाज में बदले की भावना के तहत ही हिंसा का भयानक रूप देखने को मिल रहा है। एक व्यक्ति दूसरे से बदला लेने के किए उसकी हत्या भी कर देता है। एक देश दूसरे देश पर जैविकीय हथियारों के हमले से भय का वातावरण पैदा कर देता है। यह सब बदले की भावना ही है जिससे हिंसा में वृद्धि हाती है।

(2) आवश्यकता की पूर्ति—आवश्यकता की पूर्ति हिंसा का एक प्रमुख कारण है। वर्तमान समय में बेरोजगार युवकों द्वारा अकेले या समूह बनाकर हिंसात्मक कार्य अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए किए जा रहे हैं। आज के माहौल

में युवकों को जब उचित रोजगार नहीं मिल रहा है तो वे अकेले या समूह बनाकर लूट-पाट के कार्यों की ओर प्रेरित हो रहे हैं। अक्षरधाम मन्दिर में फायरिंग करने वाले 20-22 वर्ष के नवयुवक को उनकी आवश्यकता ने आतंकवादी बना डाला।

(3) भय उत्पन्न करना—वर्तमान समय में अनेक ऐसे संगठन बन गए हैं जिनका उद्देश्य जनसमुदाय में भी भय उत्पन्न करना है। जैसे लादेन का संगठन अलकायदा के द्वारा अमेरिका के विश्व प्रसिद्ध टावर ध्वस्त कर अमेरिका की सरकार एवं जनता में भय उत्पन्न कर दिया था। इस प्रकार के संगठनों की संख्या भी विश्व में बढ़ रही है।

(4) हिंसा का प्रसार—स्स्वना एवं प्रौद्योगिकी के विकास ने हिंसा का भी पूरा प्रसार किया है। अमेरिकी टावर ध्वस्त की घटना पूरे विश्व में प्रसारित की गई। भारतीय संसद पर किए गए हमले का मीडिया ने खूब प्रचार किया।

सिनेमा हिंसा के प्रचार-प्रसार का सबसे प्रमुख साधन है। वर्तमान समय में हर रोज लाखों लोग सिनेमा घरों में हिंसात्मक दृश्य देखते हैं। आज का बच्चा केवल नेटवर्क के माध्यम से हर रोज लगभग 50 हिंसात्मक दृश्य देखता है, उसका उसके दिमाग पर क्या असर पड़ रहा है? यह शोध का विषय बन गया है। अतः स्पष्ट है कि मीडिया से हिंसा प्रचार-प्रसार किया है।

हिंसा की समस्या
(Problem of Violence)

समाजशास्त्रियों ने परिवर्तन की रणनीति में हिंसा (Violence) और संघर्ष (Conflict) की भूमिका का विश्लेषण किया है। सामाजिक परिवर्तन और हिंसक राजनीति के आपसी रिश्तों में दो मूल बातें सम्मिलित हैं। पहली बात तो यह है कि तनाव और हिंसा सामाजिक परिवर्तन के स्वाभाविक कारणं हो सकते हैं। दूसरी, परिवर्तन और बदलाव के मन्त्रों के रूप में हिंसा और संघर्ष को लिया जा सकता है। विश्व में इन दोनों मुद्दों पर बराबर बहस जारी है। यहाँ सामाजिक परिवर्तन के लिए उन हिंसक साधनों की चर्चा की गई है जो सोच-समझकर प्रयोग किए जाते हैं। मार्क्सवादी संघर्ष को क्रान्ति का औजार मानते हैं। उनका इतिहास संघर्षों से भरा हुआ है। वे क्रान्ति लाने के लिए खूनी संघर्ष से भी परहेज नहीं करते हैं।

भारत में नक्सलवादी आन्दोलन इसका एक अच्छा उदाहरण है। प्रायः सभी हिंसक प्रतिक्रियाओं का उद्देश्य लक्ष्य को हासिल करना नहीं होता है। कई लोग धन-दौलत, माल-असबाब आदि जमा करने के लिए भी इन हिंसक प्रवृत्तियों

में जुटे देखे जा सकते हैं। वे मौकों की तलाश में रहते हैं और उन व्यावसायियों को लूट लेते हैं, जिन्होंने कभी उनकी सहायता नहीं की थी। इसलिए साधारणतः हिंसक प्रवृत्तियों को सामाजिक परिवर्तन का एक उपयुक्त साधन नहीं माना जाता है। क्योंकि हिंसा का इस्तेमाल समाज में शान्ति को भंग करता है। इससे विकास की योजनाएँ प्रभावित होती हैं। प्रजातन्त्र में हिंसा की स्वीकृति नहीं दी जा सकती।

हिंसा को रोकने के उपाय
(Measures to prevent Violence)

वर्तमान समय में हिंसा का विकास इतनी तीव्र गति से हो रहा है कि इससे विकास कार्य भी प्रभावित हो रहे हैं। देश के वर्तमान में हिंसा को रोकने हेतु निम्नलिखित प्रमुख उपाय किए जा रहे हैं–

(1) सरकारी उपाय–सरकारी उपायों के तहत विभिन्न उपाय किए जा रहे है जिनका उद्देश्य हिंसा में कमी करना भी है। जैसे–पोटा लागू करना, आतंकवादियों के विरुद्ध सक्त रवैया, बेरोजगारों के लिए विभिन्न रोजगार योजनाएँ जैसे प्रधानमन्त्री रोजगार योजना आदि योजनाओं द्वारा सरकार का प्रयास हिंसा को कम करना भी है।

(2) गैर-सरकारी उपाय–गैर-सरकारी उपायों के तहत विभिन्न संस्थाएं एवं संगठन का प्रचार-प्रसार करते है, हिंसा को कम करने में सहायक हैं। जैसे–आर्य समाज, ब्रह्म समाज, विभिन्न महिला संगठन आदि। जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म में भी हिंसा का कोई स्थान नहीं है।

प्रत्यक्ष तौर पर सरकारी या गैर सरकारी उपायों का प्रमुख उद्देश्य हिंसा दूर करना नहीं परन्तु अप्रत्यक्ष तौर पर उनके उपरोक्त कार्यक्रम काफी हद तक हिंसा को कम करते हैं।

भारत में अपराध
(Crime in India)

अब तक के विवरण से हम यह जान चुके हैं कि अपराध समाज विरोधी कार्य हैं, मगर इनकी सार्वभौमिकता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः अपराध एक गम्भीर सामाजिक समस्या है जो कि सामाजिक विचलन द्वारा उत्पन्न होती है। अपराध सभी समाजों और युगों में होते आए हैं। हाँ, इनके स्वरूप और मात्रा में कुछ अन्तर या भिन्नता अवश्य हो सकती है। भारत भी अपराधों से

अछूता नहीं है। आँकड़े इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि हमारे देश में अपराधों की मात्रा में वृद्धि हो रही है।

क्राइम इन इण्डिया, 1998 के अनुसार वर्ष 1995-98 के दौरान भारत में औसतन प्रतिवर्ष हुए कुल अपराधों में से भारतीय दण्ड संहिता के अन्तर्गत लगभग 17.26 लाख संज्ञेय (Cognizable) अपराध होते हैं जिनमें चोरी, सेंध लगाकर चोरी, लूटमार, डकैती, हत्या, दंगा, अपहरण, धोखाधड़ी, विश्वास भंग आदि शामिल हैं। इसी प्रकार लगभग 44.94 लाख अपराध स्थानीय और विशेष कानूनों के तहत होते हैं, जैसे—मोटर व्हीकिल एक्ट, प्रोहिबिशन एक्ट, गैम्बिलिग एक्ट, एक्साइज एक्ट, आर्म्ज एक्ट, सप्रेशन ऑफ इम्मौरल ट्रेफिक एक्ट, ओपियम एक्ट, रेलवे एक्ट, एक्सप्लोसिव सब्सटैन्सा एक्ट आदि। इस अर्थ में भारत में अपराध की दर अधिक ऊँची नहीं है। औद्योगिक समाजों में अमेरिका अपराध के क्षेत्र में सबसे ऊपर है, वहाँ एक वर्ष में पूरी जनसंख्या के अनुपात में 4 से 5 प्रतिशत अपराध होते हैं। हमारे देश में प्रति एक लाख जनसंख्या में संज्ञेय अपराध की दर लगभग 180 है। कुल संज्ञेय अपराधों में से लगभग 38 प्रतिशत चार हिन्दी भाषी उत्तरी राज्यों, जैसे—उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार और राजस्थान में होते हैं और लगभग 27 प्रतिशत चार दक्षिणी राज्यों, जैसे—तमिलनाडु, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश और केरल में होते हैं।

कुल संज्ञेय अपराधों में से लगभग 23 प्रतिशत अर्थिक अपराध 16.2 प्रतिशत चोरी, 6.7 प्रतिशत सेंध लगाकर चोरी (Burglary), 1.3 प्रतिशत लूटमार, 0.5 प्रतिशत डकैती जैसे अपराधों से सम्बन्धित हैं। इसकी तुलना में 77 प्रतिशत अपराध तो सम्पति पर आधारित अपराध होते हैं और 23 प्रतिशत अपराध व्यक्तिगत अपराधों की श्रेणी में आते हैं। भारत में संज्ञेय अपराध की दर महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों में बहुत अधिक है। सौ अपराधियों में से 95 पुरुष हैं और 5 महिलाएँ। शहरी अपराधियों का अनुपात ग्रामीण अपराधियों की तुलना में बहुत कम है। अपराध की दर निम्नतम सामाजिक आर्थिक समूहों में सबसे अधिक है। आयु समूह के आधार पर संज्ञेय अपराध की दर 16 वर्ष से कम आयु में समूह में 0.2 प्रतिशत, 16-18 वर्ष की आयु समूह में 1.2 प्रतिशत, 18-30 वर्ष के आयु समूह में सबसे अधिक 51.2 प्रतिशत, 30-50 वर्ष के आयु समूह को सबसे अधिक 41.4 प्रतिशत और 50 से अधिक के आयु के समूह में 6 प्रतिशत। *(क्राइम इन इण्डिया, 1998)*

अपराध के मामले में देश की राजधानी *दिल्ली* नम्बर वन पर है। 1जनवरी, 2002 से 31 जुलाई, 2002 की अवधि के दौरान दिल्ली में हुए अपराध की डायरी लोकसभा में प्रस्तुत करते हुए गृहराज्य मन्त्री ने बताया था कि इन छह महीनों में राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली के 23,312 आपराधिक मामले दर्ज किए गए। चारों प्रमुख महानगरों में आपराधिक मामलों में दिल्ली सबसे आगे है। इन मामलों में दुष्कर्म, डकैती, हत्या, दंगे और फिरौती के लिए अपहरण के मामले शामिल हैं। गृह राज्यमंत्री के अनुसार इससे पिछले वर्ष भी दिल्ली भारतीय दण्ड संहिता के तहत दर्ज कुल 4,746 मामलों के साथ अपराध में सबसे आगे थी। जबकि 2351 मामलों के साथ मुम्बई दूसरे, 999 मामलों के साथ कोलकाता तीसरे तथा 520 मामलों के साथ चेन्नई चौथे नम्बर पर थी।

बाल अपराध
(Juvenile Delingueney)

बाल अपराध आधुनिक युग की एक गम्भीर सामाजिक समस्या है। देश का भविष्य बालकों पर निर्भर करता है। पहले यह माना जाता था कि अपराधी अपने माँ-बाप से ही अपराध करने की प्रवृत्ति लेकर आता है। लेकिन अब समाज वैज्ञानिकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कोई भी बालक जन्म से अपराधी नहीं होता है। अपराध एक सामाजिक रोग है जो समाज में विद्यमान परिस्थितियों की उपज है। इस प्रकार समाज में उपस्थित परिस्थितियाँ ही बालक व्यक्ति को अपराधी बनाती हैं। अतः बालक जैसी परिस्थितियों में रहेंगे, जैसे उन्हें संस्कार मिलेंगे वे वैसे ही बनेंगे। बालक तो सदैव ही अपने बड़ों का अनुसरण करते हैं। यदि किसी बालक की संगति ऐसे लोगों की है जो कि आपराधिक प्रवृत्ति के हैं तो वह बालक भी आपराधिक कार्य और उसकी तकनीक सीख जाएगा। टार्डे ने इसलिए यह निष्कर्ष निकाला था कि *'मनुष्य आपराधिक कर्मों को नकल करके सीखता है।'*

बाल अपराध (किशोर अपराध) बालक का लडकपन या नटखटपन है जिसके वशीभूत होकर वह कानून का उल्लंघन करता है। साधारणतः एक बाल अपराधी को आयु की नजर से नाबालिग या गैर व्यस्क अपराधी माना जाता है। देश के कानून द्वारा निर्धारित 7 और 16 या 18 वर्ष की आयु के बालक बाल अपराध की श्रेणी में रखे जाते हैं। 1986 के बाल-न्याय अधिनियम के अनुसार

आज बाल-अपराधियों की अधिकतम आयु लड़कों के लिए 16 वर्ष और लड़कियों के लिए 18 वर्ष है। परन्तु इससे पहले चिल्ड्रन एक्ट्स के अनुसार यह विभिन्न राज्यों में अलग-अलग थी। उत्तर प्रदेश, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, पंजाब और मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में यह 16 वर्ष थी। परन्तु बंगाल और बिहार जैसे राज्यों में यह 18 वर्ष थी। राजस्थान, असम और कर्नाटक जैसे राज्यों जैसे राज्यों में यह लड़कों के लिए 18 वर्ष थी। फिर भी, आयु के अलावा अपराध की प्रकृति भी उतनी ही महत्वपूर्ण है।

क्राइम इन इण्डिया, 1998 के अनुसार किशोरों द्वारा किए गए कुल अपराधों में से मुश्किल से 2 प्रतिशत पुलिस और न्यायालयों के ध्यान में आते हैं। 1998 में लगभग 9.3 हजार बाल अपराध भारतीय दंड संहिता (IPC) के विभिन्न धाराओं के अन्तर्गत और लगभग 6 हजार अपराध स्थानीय और विशेष कानूनों के अन्तर्गत हुए थे। इसी प्रकार 19 हजार बालक भिन्न-भिन्न अपराधों जिसमें 11,982 या 70 प्रतिशत आई.पी.सी. के अन्तर्गत तथा 6,982 या 30 प्रतिशत स्थानीय और विशेष कानूनों के अन्तर्गत गिरफ्तार किए गए थे। 1998 में कुल संज्ञेय बाल अपराध 1.7 प्रतिशत थे। जबकि आज भारत में कुल संज्ञेय अपराधों में बाल-अपराधों का प्रतिशत 0.5 है।

सामान्यतः बालकों के द्वारा मार-पीट, आवारागर्दी, तोड़-फोड़, चोरी, सेंधमारी, डकैती तथा राहजनी जैसे अपराध किए जाते हैं। इस आयु वर्ग द्वारा हत्या जैसे गम्भीर अपराध किए जाने के कुछ मामले भी प्रकाश में आए हैं। इसी प्रकार, लड़कियों की तुलना में लड़के अधिक अपराध करते हैं। बाल अपराध गाँवों की अपेक्षा शहरों में ज्यादा होते हैं। लगभग 30 प्रतिशत बाल अपराधी निरक्षर होते हैं। 41 प्रतिशत प्राथमिक पास, 24 प्रतिशत मिडिल व सैकण्डरी कक्षा पास तथा बहुत ही कम 5 प्रतिशत हाई स्कूल पास होते हैं। आधे से कुछ कम यानि 45 प्रतिशत बाल अपराधी घरों में रहते हैं, जिनकी आय 500 रुपये प्रति माह से कम होती है यानि वे गरीब परिवार से होते हैं। अधिकांश बाल अपराध समूहों में किए जाते हैं। अमेरिका में भी शॉ और मैके ने अपने अध्ययन में पाया कि अपराध करते समय 90 प्रतिशत बालकों के साथ उनके साथी थे।

बाल अपराध के लिए कोई एक कारण अत्तरदायी नहीं है। ऐसे अनेक कारण हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्क्ष रूप से बाल-अपराध को प्ररित करते हैं। आज का समाज अत्यन्त जटिलता के कारण भी बाल अपराधों की संख्या में वृद्धि हो रही है। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने बाल अपराध के अलग-अलग कारण बताए हैं।

हीली और ब्रानर ने बाल अपराध के 13 कारणों का उल्लेख किया है—(1) बुरी संगति (2) किशोर अस्थिरता और भावनाएँ, (3) पूर्व और यौन-अनुभव, (4) मानसिक संघर्ष, (5) पूर्व सामाजिक सुझावग्राह्यता, (6) खतरों से प्यार, (7) चलचित्र (सिनेमा), (8) मूल असन्तोष, (9) बुरा मनोरंजन, (10) आवारा जीवन, (11) व्यावसायिक असन्तोष, (12) भौतिक दशाएँ तथा (13) अश्लील व कामुक वातावरण। आज का बदलता सामाजिक परिवेश भी बाल अपराध को बढ़ावा देता है। टी.वी. पर दिखाए जाने वाले विभिन्न चैनलों से अश्लीलता और कामुकता को परोसा जा रहा है, जिसके सबसे ज्यादा शिकार किशोर हो रहे हैं। संचार मीडिया द्वारा प्रसारित ज्यादातर विज्ञापनों में धूम्रपान, मद्यपान, हिंसा तथा क्रूरता का प्रदर्शन होता है जो बालकों के कोमल मन पर अपनी विषैली छाप छोड़ जाता है। जब बालक जाने-अनजाने में इनका प्रयोग करता है, तो अपराध की दुनिया में प्रवेश कर जाता है।

सफेदपोश अपराध या व्यावसायिक अपराध
(White Collar Crime or Occupational Crime)

आज अपराध केवल उन व्यक्तियों के द्वारा ही नहीं किए जाते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति खराब है। अपराधी वे व्यक्ति ही नहीं हैं जिनमें कोई शारीरिक या मानसिक 'प्रकार' पाया जाता है या जिनके ऊपर वातावरण पाया जाता है या जिनके ऊपर वातावरण का दवाब रहता है। वर्तमान युग में अपराध उन व्यक्तियों के द्वारा भी किए जाते हैं जिन्हें तमाम में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त है। समाज में इस प्रकार की कानून-विहीनता चिन्ता का विषय है। समाज में बढ़ती हुई इस अपराध प्रवृत्ति को 'सफेदपोश अपराध' (White Collar Crime) या 'व्यावसायिक अपराध (Occupational Crime) कहा जाता है।

प्रसिद्ध अपराधशास्त्री सदरलैण्ड के अनुसार, *"सफेदपोश अपराध सम्मानित और उच्च सामाजिक प्रस्थिति के व्यक्ति द्वारा अपने व्यवसाय के दौरान किया जानेवाला अपराध है।"* 'सफेदपोश' का अभिप्राय मात्र सफेद कपड़े पहनने वालों से न होकर ऐसे व्यक्तियों से है जो समाज के उच्च पदों पर होने के कारण कानून की पकड़ में सरलता से नहीं आते हैं। प्रत्येक समाज के व्यवसाय के आधार पर तथा धार्मिक, राजनीतिक, सामाजक प्रस्थिति के आधार पर उच्च पद जिन लोगों को मिलता है, ऐसे लोगों द्वारा किया जाने वाल अपराध सफेदपोश अपराध कहलाता है।

सदरलैण्ड की इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि सफेदपोश अपराधी की सामाजिक प्रस्थिति उच्च होती है तथा वह अपने व्यवसाय के अन्तर्गत अपराध करता है। इस प्रकार के अपराध का प्रमुख लक्ष्य आर्थिक होता है। बड़े-बड़े व्यापारी मिलावट करते हैं। वकील जो धन के लोभ में वास्तविक तथ्यों को तोड़-मरोड़ देते हैं। डॉक्टर जो पैसे लेकर अवैध पोस्टमार्टम की रिपोर्ट देते हैं। आय छिपाना, कर नहीं देना, गलत बिक्री या आयकर रिटर्न भरकर लाभ लेना, खाद्य-पदार्थों में मिलावट करना ये सब सफेदपोश अपराधों के उदाहरण हैं।

अब सफेदपोश अपराध का दायरा काफी विस्तृत हो गया है। 'सफेदपोश' शब्द की बजाय अब इतना साहित्य सम्बोधन 'व्यावसायिक अपराध' हो गया है। इस अपराध के दायरे में व्यापारी, व्यवसायी और वे सभी सरकारी अधिकारी व कर्मचारी आ गए हैं जो अपने मुद्दों पर कार्य करते हुए कानून व नियमों का उल्लंघन करके सफेदपोश या व्यावसायिक अपराधों को अन्जाम देते हैं। इनके अन्तर्गत विज्ञापनों राशि के गलत विवरण देना, श्रमिक कानूनों का उल्लंघन, करना वित्तीय धोखाधड़ी तथा कॉपीराइट कानूनों की परवाह न करना जैसे अपराध भी सम्मिलित हो गए हैं। पहले इन सफेदपोश अपराधियों पर हाथ डालना सम्भव नहीं था। लेकिन अब सी.बी.आई. और उच्च तथा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मुस्तैदी दिखाए जाने के परिणाम स्वरूप बड़े-बड़े आई.ए.एस, आई.पी.एस., जज, नेता और पूँजीपति सफेदपोश अपराधों की गिरफ्त में आ रहे हैं। यद्यपि आर्थिक अपराधों में वृद्धि के बावजूद सजा पाने लोगों की गिनती आज भी स्थिर ही है।

संगठित अपराध
(United Crimes)

आधुनिक युग में अपराध का स्वरूप भी बदलता जा रहा है। पहले ज्यादातर अपराध एकल या तीन-चार व्यक्तियों के समूह द्वारा किए जाते थे। आज अपराध का स्वरूप भी संस्थागत हो गया है। अतः **ऐसा अपराध जिसको करने में व्यक्तियों का एक बड़ा समूह लगा हो, उसे संगठित अपराध कहते हैं।** दूसरे शब्दों में अब अपराध एक प्रकार का सामूहिक कार्य हैं, जिसे अत्यधिक संगठित प्रणाली से किया जाता है। समाजशास्त्रियों ने तीन प्रकार के संगठित अपराधों की व्याख्या की है—

(1) गिरोह अपराध—गिरोह अपराध के अन्तर्गत लोगों से धन ऐंठना (जिसमें अपराध जगत के कुख्यात अपराधी, संगनाओं, जैसे—दाउद इब्राहिम, छोटा राजन, बड़ा

राजन, शकील, अबु सलेम आदि के नाम पर उनके आदमियों द्वारा हफ्ता या महीना वसूला जाता है), डकैती (जिसमें बैंक में भी डाली जाती है), **अपरहण** (जिसमें किसी बड़ी हस्ती का अपहरण कर लिया जाता है, जैसे चन्दन तस्कर वीरप्पन ने कर्नाटक के फिल्मी कलाकार श्री राजकुमार का अपहरण करके राज्य सरकार के पास अपनी माँग रखी थीं), **फिरौती** (इसमें भी किसी उद्योगपति के बच्चे को उठाकर धन की मांग की जाती है) शामिल हैं। ऐसे अपराधों का निष्पादन अत्यन्त कठोर, निर्दयी और ताकतवर अपराधी गिरोह द्वारा किया जाता है।

(2) धोखाधड़ी—नई-नई स्कीमों में अधिक ब्याज देने के नाम पर लोगों से पैसे ठगना। मिलावटी सामान बेचना, नकली दवाओं का व्यापार करना, नकली पासपोर्ट-वीजा बनवाकर विदेश भेजने के नाम पर पैसा ठगना आदि अपराध धोखाधड़ी के श्रेणी में आते हैं। धोखाधड़ी करने वाले अपराधी गैर-कानूनी व्यवसाय, जैसे—ड्रग्स सप्लाई और तस्करों को सुरक्षा मुहैया करने का कार्य भी करते हैं।

(3) संघ अपराध—बड़े शहरों (महानगरों) जैसे—दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, चेन्नई में संघ अपराध संगठित अपराधी गिरोह द्वारा किए जाते हैं। ये अपराधी गिरोह सरगना कहलाते हैं। गिरोह अपराध में जिन कुख्यात अपराधियों का जिक्र किया गया है, वही इन माफिया के सरगना हैं। इनका महानगरों में बहुत प्रभाव होता है। मुम्बई की पूरी फिल्म नगरी और बड़े व्यवसायों में इनकी तूती बोलती है, इनके प्रभाव के बिना वहाँ पत्ता भी नहीं हिल सकता है। ये एक भय का वातावरण उपस्थित करते हैं, इनका सम्बन्ध अन्तरराष्ट्रीय आतंकवादी गिरोह से भी होता है। ये सट्टेबाजी, नशीली दवाओं का अवैध व्यापार, गैर-कानूनी हथियारों को आतंकवादियों तक पहुँचाने का कार्य बेधड़क करते हैं। ये अपराधी किसी भी बड़े राज नेता या व्यापारी को उनके विरोधियों द्वारा मरवाने के नाम पर 'सुपारी' लेकर काम को अन्जाम देते हैं।

इनका जाल बड़े व्यापक पैमाने पर दुनिया भर में फैला होता है। इन अपराधों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। अन्य देशों की तरह भारत भी संगठित अपराधों से घिरा हुआ है जिसका मूल्यांकन करना आसान नहीं है।

सन्दर्भ-सूची

●●●

●●●

प्रेमशंकर तिवारी एक लेखक, राजनीतिज्ञ और समाजशास्त्री हैं। यह विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्रवक्ता रह चुके हैं। भारत और भारत के बाहर राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के विषयों पर विभिन्न शोध-पत्र प्रस्तुत किए हैं। गोरखपुर विश्वविद्यालय से राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास और अंग्रेजी से स्नातकोत्तर तथा बी.एड. की डिग्रियाँ प्राप्त की हैं। इनको राज्य सरकार व जिला प्रशासन द्वारा सम्मानित व पुरस्कृत तथा अनेक सामाजिक एवं शैक्षणिक संस्थानों द्वारा सम्मानित किया जा चुका है। इनके शोध कार्य में प्रतिबद्धता के कारण उन्हें 'इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडी' ने एसोशिएटशिप तथा फेलोशिप प्रदान की है। वर्तमान में एक एडवांस शिक्षण संस्था को संचालित कर रहे हैं।

ISBN 81-88837-74-1
Price Rs : 425

प्रेमशंकर तिवारी एक लेखक, राजनीतिज्ञ और समाजशास्त्री हैं। यह विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्रवक्ता रह चुके हैं। भारत और भारत के बाहर राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के विषयों पर विभिन्न शोध-पत्र प्रस्तुत किए हैं। गोरखपुर विश्वविद्यालय से राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास और अंग्रेजी से स्नातकोत्तर तथा बी.एड. की डिग्रियाँ प्राप्त की हैं। इनको राज्य सरकार व जिला प्रशासन द्वारा सम्मानित व पुरस्कृत तथा अनेक सामाजिक एवं शैक्षणिक संस्थानों द्वारा सम्मानित किया जा चुका है। इनके शोध कार्य में प्रतिबद्धता के कारण उन्हें 'इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडी' ने एसोशिएटशिप तथा फेलोशिप प्रदान की है। वर्तमान में एक एडवांस शिक्षण संस्था को संचालित कर रहे हैं।

ISBN 81-88837-74-1
Price Rs : 425